EDUCATION AND ORGANIZATION OF EDUCATION AND FEMALE PARTICIPATION IN THEM IN ANCIENT INDIA
(FROM 700 A D To 1200 A D)

THESIS

Submitted to the University of Allahabad
For the Degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY

[FACULTY OF ARTS]

By
LAKSHMAN SINGH

Supervisor
Prof. GEETA DEVI

DEPARTMENT OF ANCIENT HISTORY
CULTURE AND ARCHAEOLOGY
UNIVERSITY OF ALLAHABAD
ALLAHABAD
INDIA

1993

प्राक्कथन

इतिहास एक ऐसी सतत प्रवाहित होने वाली धारा है जिसमें राजनैतिक, सामाजिक, और धार्मिक घटनाओं का उतार-चढ़ाव चलता रहता है। जिसके विश्लेषणात्मक अध्ययन से काल विशेष की स्थिति को प्रकाशित करने का प्रयास समय-समय पर इतिहासकारों के द्वारा होता रहता है। प्राय: सभी इतिहासकार इस विचार से सहमत है कि 700ई0 से 1200ई0 का भारत अनेक राजनैतिक एवं सामाजिक परिवर्तनों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। निश्चित ही इन परिवर्तनों का प्रभाव तद्युगीन शिक्षा और शिक्षा के संगठन पर भी पड़ा होगा।

प्राचीन भारत में शिक्षा प्रणाली का अध्ययन, भारतीय सामाजिक अध्ययन का एक रोचक एवं महत्त्वपूर्ण अंग है, जिस पर समय-समय पर अनुसंधान और ग्रन्थ प्रणयन होते रहे हैं। इस संदर्भ में कुछ महत्वपूर्ण कृतियों के नाम उल्लेखनीय है, यथा-श्री एस0के0दास कृत "एजूकेशन सिस्टम आफ द एन्शियेन्ट - हिन्दूज", डा0 राधाकुमुद मुकर्जी की पुस्तक "एन्शियेन्ट इण्डियन एजूकेशन - [ब्राम्हनिकल एण्ड बुद्धिस्ट], डा0ए0एस0अलतेकर कृत "प्राचीन भारतीय शिक्षा - पद्धति", श्री अच्युतन की पुस्तक "एजूकेशन प्रैविलेज इन मनु, दाणिनी एण्ड कौटि- ल्य", डा0 गीता देवी की कृति "उत्तर भारत में शिक्षा व्यवस्था 600 ई0 से - 1200ई0]। विद्या भवन सीरिज के ग्रन्थों "दि क्लासिकल एज", "दि एज आफ - इम्पिरियल कन्नौज" एवं "द स्ट्रगल फार इम्पायर" आदि में इस काल की शिक्षा पर कुछ प्रकाश डाला गया है। इस काल की सम्पूर्ण भारतीय समाज की शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था, विकास और स्त्रियों की शिक्षा एवं उनके योगदान आदि का स्वतंत्र विवेचन के उद्देश्य की पूर्ति के दृष्टिकोण से अपने इस शोधकार्य को प्रारम्भ किया। मेरे शोध प्रबन्ध का विषय "प्राचीन भारत में शिक्षा और शिक्षा का संगठन और उनमें स्त्रियों की भागीदारी [700ई0 से 1200ई0]" है।

अन्त में मैं उन शुभ चिन्तकों को हृदय से धन्यवाद देता हूँ, जिनकी शुभ कामनाएं सदैव मेरे साथ रहीं।

यदि शोध - प्रबन्ध में कोई अशुद्धि अथवा त्रुटि रह गयी हो तो उसके लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।

लक्ष्मण सिंह

विजयादशमी
दिनांक 24 अक्टूबर 1993 ई०
इलाहाबाद ।

लक्ष्मण सिंह
एम०ए०, एल०एल०बी०

====================

संक्षिप्त संकेत-सारणी

आ० ध० सू०	--	आपस्तम्ब धर्म सूत्र
आश्व०गृ०सू०	--	आश्वलायन गृह्यसूत्र
आ०स० रि०	--	आर्कैलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट्स
इ० ऐ०	--	इण्डियन एन्टिक्वेरी
इत्सिंग	---	रेकार्ड आफ दि वेस्टर्न वर्ड बाई इत्सिंग, ताकाकुसु
इ०हि०क्वा०	--	इण्डियन हिस्टारिकल क्वाटर्ली
इ०हि०रि०	--	इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यु
इ० इं०	--	एपिग्राफिया इंण्डिका
कृत्य०ब्रम्ह०	--	कृत्यकल्पतरु ब्रम्हचारी काण्ड
ज०ए०सो०बं	--	जरनल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल.
ज०बि०रि० सो०	--	दि जरनल आफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी.
ट्रां०इ०हि०कां०	--	ट्रांजेक्शन आफ दि इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस.
नि०सिं०	--	निर्णय सिंधु
पृ०	--	पृष्ठ
बौ०गृ०सू०	---	बौधायन गृह्यसूत्र
मे०आ०स०इं०	----	मेमायर्स आफ दि आर्कैलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया.
या३० स्मृति	----	याज्ञवल्क्य स्मृति
वी०मि०सं०	---	वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश
स्मृ०चं०आ०कां०	---	स्मृति चंद्रिका आह्निक काण्ड
सा०इ०इ०	--	साउथ इण्डियन इन्स्क्रप्शन
सी० आई०आई०	--	कापर्स इन्स्क्रिप्शन इण्डिकेरम

==================

इ-

विषय-सूची

==============

प्रथम अध्याय

शिक्षा का अर्थ, महत्त्व तथा उद्देश्य और आदर्श

शिक्षा का अर्थ, महत्व तथा उद्देश्य और आदर्श

किसी भी राष्ट्र एवम् उसकी संस्कृति के आदर्शों का परिज्ञान प्राप्त करने के निमित्त वहाँ की शिक्षा प्रणाली का मूल्यांकन आवश्यक होता है। प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक अलग पहचान होती है, वह पहचान उसकी संस्कृति एवम् सभ्यता से होती है। सांस्कृतिक सम्पदा शिक्षण संस्थाओं में सुरक्षित रहती है। ये शिक्षण संस्थाएँ संस्कृति की प्रहरी बनकर उसकी रक्षा में लगी रहती है। अतः कहा जा सकता है कि किसी भी राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति वहाँ की शिक्षा जगत में मुखरित होती रहती है। शिक्षा समाज को और समाज शिक्षा को निरन्तर प्रभावित करता रहता है। वस्तुतः किसी राष्ट्र के सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को, वहाँ के शिक्षा जगत के माध्यम से प्रतिनिधित्व मिलता है। प्राचीन भारतीय शिक्षा तत्कालीन समाज एवं संस्कृति से अत्यधिक जुड़ी हुई है, जिसके बिना उस काल की जीवन पद्धति एवं मूल्यों को नहीं जाना जा सकता है। जीवन पद्धति के मूल्यों का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में परिगमन प्रायः शिक्षा के माध्यम से ही होता है। प्रायः सभी शिक्षाशास्त्रियों ने इस विचार का समर्थन किया है अतः मानव का पूर्ण विकास शिक्षा के विकास के साथ ही कहा जा सकता है।

शिक्षा का अर्थ:

शिक्षा के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ पर विचार करने से ज्ञात होता है कि "शिक्षा" शब्द "शिक्ष्"[1] धातु से बना है, जिसका अर्थ है सीखना, सिखाना। इसका अनुरूप शब्द "विद्या" है जो संस्कृत के "विद्" धातु से बना है, जिसका अर्थ है, "जानना या ज्ञान प्राप्त करना।"[2] इस प्रकार शिक्षा सीखने-सिखाने की, जानने अथवा ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया है।[3]

---

1. डॉ० एस०के०पाल एवं के०एल० अग्रवाल: शिक्षा के सामान्य सिद्धान्त, पृष्ठ 7.
2. वही।
3. वही।

विवेच्य युग (700ई0 से 1200ई0) में शिक्षा का अर्थ पूर्ववत् ही था। भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक काल में सर्वप्रथम शिक्षा शब्द ऋग्वेद में आया है। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार इस ऋचा में शक्ति देने के लिए इन्द्र की प्रार्थना की गयी है, अतः शिक्षा का अर्थ देना हुआ।[1] शिक्षा से सम्बन्धित "विद्या" शब्द के लिए उपनिषद में ब्रह्मज्ञान के लिए आया है।[2] अनेक प्रकार के विषयों के लिए भी विद्या शब्द का प्रयोग हुआ है।[3] विद्या उस ज्ञान को कहते हैं जिससे शाश्वत सत्य की अनुभूति होती है।[4] विद्या शब्द शतपथ ब्राह्मण में विषयों के अध्ययन की सूची में आता है। मैकडोनैल और कीथ के अनुसार इस व्याहृति से विद्या का क्या आशय है? यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। जब कि एंग्लिङ्ग अपेक्षाकृत अधिक सम्भावना के साथ सर्प विद्या या विष विद्या जैसे किसी विशेष विज्ञान का आशय मानते हैं।[5] मनुस्मृति में "चतुर्दश विद्या" का उल्लेख है[6] परन्तु पुराणों तथा याज्ञवल्क्य

---

1. राहुल सांकृत्यायन : ऋग्वैदिक आर्य, पृ0 147.
2. "विद्यायां विन्दतेऽमृतम्"- केनोपनिषद-2,4.
3. डॉ0 गीता देवी: उत्तर भारत में शिक्षा-व्यवस्था (600ई0 से 1200ई0), पृ062.
4. वायुपुराण- 16,21,
5. ए0ए0 मैकडोनैल और ए0बी0कीथ : वैदिक इन्डेक्स (हिन्दी संस्करण, पृ0 355).
6. चारों वेद, धर्मशास्त्र, पुराण, मीमांसा, तर्कशिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, निरुक्त (भाषा-विज्ञान) मनु 2.

स्मृति में "अष्टादश विद्याओं का उल्लेख मिलता है।[1] वैसे तो विद्याएँ अनेक है क्यों कि कहा भी गया है कि जिनको जानकर व्यक्ति अपना हित पहचान सके और अहित का निवारण कर सके वे विद्याएँ है।[2] शिक्षा के अर्थ को व्यक्त करने वाला एक अन्य शब्द "अध्ययन" है।[3] इसका अर्थ है विद्या प्राप्ति के लिए गुरू के निकट जाना।[4] शिक्षा ग्रन्थों में पाणिनीय शिक्षा, याज्ञवल्क्य शिक्षा, माण्डव्य शिक्षा आदि में प्राचीन शिक्षा सूत्र भी विद्यमान थे। इनके अनुशीलन से सिद्ध है कि प्राचीन ऋषियों ने भाषा शास्त्र के इस अंग का कितना वैज्ञानिक अध्ययन किया था। इसका सम्बन्ध विशेषत: उच्चारण विद्या से था। उत्तर वैदिक काल में शिक्षा को वेदाध्ययन का एक प्रमुख अंग माना गया। शिक्षा के छ: अंगों के नाम का उल्लेख तैत्तरीय उपनिषद में उपलब्ध है। ये हैं स्वर, मात्रा, वर्ण, बल, साम और सन्तान।[5] सायण के अनुसार शिक्षा का अर्थ है जिसके द्वारा स्वर, वर्ण आदि के उच्चारण प्रकारों का उपदेश दिया जाये।[6] इस प्रकार शिक्षा विद्या और अध्ययन तीनों शब्द समान अर्थ का बोध कराने वाले शब्द हैं।

मुण्डकोपनिषद पर शांकरभाष्य[7] में दो प्रकार की विद्याओं का उल्लेख मिलता

---

1. उपर्युक्त चौदह विद्याओं के साथ-साथ धनुर्वेद, आयुर्वेद, गन्धर्ववेद और अर्थशास्त्र को को मिलाकर "अष्टादस" विद्या माना गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति 1,3. विष्णुपुराण 3,6,27-8, ब्रह्मपुराण 2,35,88-9,3,15,29.
2. नीतिवाक्यामृतम्, पृष्ठ 21.
3. तैत्तरीय उपनिषद: 1,9,1,11.
4. एस0के0दास :एजूकेशनल सिस्टम आफ द एंशियेण्ट हिन्दूज, पृष्ठ 18.
5. तैत्तरीय उपनिषद, 1/2.
6. स्वर-वर्णाद्युच्चारण प्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा। सायण-ऋग्वेद-भाष्य भूमिका, पृष्ठ 49.
7. "द्वे विद्ये इत्यादि। परा च परमात्मविद्या। अपरा च धर्माधर्म-साधन तत्फल विषया। अपरा हि विद्या अविद्या। स निरा कर्त्तव्या। तद्विषये हि विदते नका चत् तत्व तो विदितं स्यात्। शांकर भाष्य।

है। प्रथम को "परा" अर्थात् परमात्म विद्या कहा गया है, और द्वितीय को "अपरा विद्या" जो धर्मार्थ के साधन एवं उनके फल से सम्बन्धित है।पारमार्थिक दृष्टिकोण से "अपरा" विद्या अविद्या मानी गयी है। "अपरा" विद्या में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, शिक्षा कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द, ज्योतिष् छः वेदांग सम्मिलित हैं।[1] "परा विद्या" उस शाश्वत ज्ञान को व्यक्त करती है जो उपनिषद् के अध्ययन से प्राप्त होती है।[2] जो विद्यायें वाणी का विषय बन जाती हैं वे सभी "अपरा विद्या" और जो विद्यायें वाणी का विषय नहीं बन पाती वे "परा विद्या" की श्रेणी में आती हैं। परा विद्या" को ही "आध्यात्म विद्या" कहते हैं।[3] ऐसी विद्या से प्राप्त ज्ञान को शाश्वत तत्व की प्राप्ति होती है परन्तु प्रत्येक व्यक्ति "परा विद्या" का अधिकारी भी नहीं हो सकता क्यों कि सबमें समान क्षमता नहीं होती।[4] इस प्रकार स्पष्ट है कि इहलोक और परलोक के सन्दर्भ में शिक्षा का भिन्न भिन्न अर्थ है।

कतिपय आधुनिक शिक्षाशास्त्रियों की भांति प्राचीन भारतीयों ने भी शिक्षा शब्द का प्रयोग विस्तृत तथा संकुचित दोनों अर्थों में किया है। व्यापक अर्थ और क्षेत्र में शिक्षा मनुष्य के आत्मिक विकास की वह गति है जो इसके जन्म से लेकर, अनुकरण, श्रवण, अध्ययन, मनन तथा पारस्परिक सम्बन्ध स्थापन के द्वारा जीवन के अन्त तक चलती रहती है। यदि व्यक्ति चाहे तो जीवन के अन्त तक विद्यार्थी रह सकता है।[5] सीमित अर्थों में शिक्षा का तात्पर्य जीवन की उस अवस्था विशेष से है जिस अवधि में कोई मनुष्य अपने गुरू के आश्रम अथवा किसी शिक्षालय में रहकर अपनी प्रगति के हेतु अपेक्षित उपदेश या संस्कार प्राप्त करता है। मनुष्य के विकाश की इस महत्वपूर्ण स्थिति को ब्रह्मचारी का जीवन, अन्तेवासी का जीवनया विद्यार्थी जीवन कहते हैं। आधुनिक समय में भी प्राय: यही अर्थ प्रचलित है जो कोई भी व्यक्ति जीवन संग्राम में प्रविष्ट होने से पूर्व जो कुछ भी संस्कार एवम् ज्ञान प्राप्त करता है, वहीं शिक्षा का अर्थ है।

---

1. डा० ए०एस०अल्तेकर: प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, परिशिष्ट, पृष्ठ 229.
   आर०के०मुकर्जी: हिन्दू सभ्यता, पृ० 130.
2. आत्मानन्द स्वामी: [illegible] इन हिज ओन वर्ड्स, पृष्ठ 143.
3. श्री 108 श्री स्वामी, उपनिषद् वाणी, पृष्ठ 16.
4. डा० गीता देवी: उत्तर भारत में शिक्षा-व्यवस्था ।600ई० से 1200ई०।, पृ03.
5. यावज्जीवमधीते विप्र:।

शिक्षित व्यक्ति को अन्य मनुष्यों की तुलना में श्रेष्ठ कहा गया है।[1] विद्या को अमृत प्राप्त करने का साधन माना गया है।[2] विद्या से ही मुक्ति प्राप्त होती है।[3] उपनिषदों में विद्या और अविद्या का पार्थक्य स्पष्ट कर विद्या का आश्रय ग्रहण करने और अविद्या से दूर रहने का उपदेश दिया गया है।[4] विद्या को न केवल आत्मिक के हेतु वरन् समस्त जीवन के तत्व का सम्यक बोध कराने की दृष्टि से भी उपयोगी स्वीकार किया गया है। इस रूप में मनुष्य का सम्पूर्ण ज्ञान शिक्षा का ही पर्याय है। वैदिक काल में शिक्षा के लिए ज्ञान, प्रबोध, विनय जैसे शब्दों का भी प्रयोग मिलता है।

शिक्षा का महत्व:
=============

शिक्षा के द्वारा ही हमारे राष्ट्रीय जीवन में युग-युगों के जिन दिव्य मानवीय आदर्शों की रक्षा होती गयी और जिसके आधार पर इस राष्ट्र ने अपना आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक रूप में सर्वांगीण विकास किया। किसी भी समाज एवं व्यक्ति के उन्नयन के लिए शिक्षा एक आवश्यक पहलू है, इससे प्रभावित मनुष्य का जीवन सम्बन्धी घटनाओं का सुनियोजित लेखा-जोखा ही इतिहास है। इस प्रकार शिक्षा एवं इतिहास का केन्द्र बिन्दु मनुष्य ही है, अन्तर मात्र इतना है कि शिक्षा मनुष्य बनाती है और मनुष्य इतिहास बनाता है।

शिक्षा व्यक्ति को प्रकाश, परिज्ञान तथा नेतृत्व से सम्बद्ध करती है, शिक्षा के ही माध्यम से मानव का सम्पूर्ण रूपान्तरण सम्भव होता है। महाभारत में विद्या को सर्वश्रेष्ठ नेत्र के रूप में स्वीकार किया गया है।[5]

---

1. अक्षरावन्तः कर्णो सखायो मनन्तः जवेषु असमायमूकः। ऋग्वेद, 10/7/17.
2. विद्ययामृतमश्नुते, यजुर्वेद, 40/14.
3. सा विद्या या विमुक्तये।
4. दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
5. विद्याभीप्सितं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त।
   - कठोपनिषद् 2/4.
5. नास्ति विद्या समं चक्षुर्नास्ति सत्य समं तपः। महाभारत, 12/339/6.

इसी प्रकार सुभाषितरत्नसंदोह में ज्ञान को मनुष्य का तीसरा नेत्र कहा गया है।[1] प्राचीन भारतीय मनीषियों की दृष्टि में विभिन्न उत्तरदायित्वों को निष्पन्न करने एवं भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन के निर्माण के लिए शिक्षा की नितान्त आवश्यकता थी। मनुष्य और समाज का बौद्धिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष शिक्षा के ही माध्यम से सम्भव माना जाता रहा है। सच तो यह है कि शास्त्र एवं विवेक से शिक्षा सम्पन्न होती है और शिक्षा से मनुष्य में ज्ञान का उदय होता है इसलिए ज्ञानोद्भव का आधारतत्व शास्त्र और विवेक माना गया है।[2] इहलोक तथा परलोक के सही स्वरूप का ज्ञान बिना विद्या के हो ही नहीं सकता।

विवेच्य युग में शिक्षा का अत्यधिक महत्व था। कथासरित्सागर में शिक्षा के महत्व पर बार बार प्रकाश डाला गया है। गोविन्द दत्त ब्राह्मण के घर विश्वानर नामक ब्राह्मण अतिथि आता है। गोविन्ददत्त के पुत्र मुर्ख थे। वे अतिथि-सम्मान नहीं करते थे। मुर्ख पुत्रों के कारण विश्वानर, गोविन्ददत्त के घर भोजन नहीं ग्रहण करता है। वह कहता है कि मुर्ख पुत्रों के कारण तुम भी पतित हो गये। अतः तुम्हारे यहाँ भोजन करने से प्रायश्चित्त करना होगा।[3] इससे सार्थक निष्कर्ष निकलता है कि विद्या विहीन व्यक्ति तत्कालीन समाज में पतित और असभ्य समझे जाते थे। सम्पत्तिशाली होने पर भी व्याडि एवं इन्द्रदत्त का विद्याध्ययन के लिए जाना विद्या के महत्त्व को सूचित करता है।[4] तपोदत्त ब्राह्मण का विद्याध्ययन न करने से दुःखी होना और समाज में उसकी निन्दा होना भी इस तथ्य की पुष्टि करते है।[5]

---

1. ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रं समस्ततत्वार्थविलोकिदक्षम् ।
   तेजोऽनपेक्षं विगतान्तरायं प्रवृत्तिमत्सर्वजगत्त्रयेपि ।।

   —सुभाषितरत्नसन्दोह, पृ० 194.

2. डॉ० जयशंकर मिश्र: प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० 500.

3. कथासरित्सागर 1/7/48.

4. वही. 1/3/44.

5. वही. 7/6/13-14.

शिक्षा पथ-प्रदर्शक का कार्य करती है।वस्तुत:ज्ञान अथवा विद्या से व्यक्ति का कर्म और आचरण परिष्कृत और दिव्य हो जाता है और वह ज्ञान सम्पन्न होकर देवतुल्य हो जाता है। विद्या से यश और ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। विद्या से विहीन व्यक्ति पशु के समान माना गया है।[1] मनुष्य के जीवन में विद्या अथवा ज्ञान का विशिष्ट स्थान है। विद्या के बिना मनुष्य का व्यक्तित्व संकुचित और जीवन बोझिल हो जाता है।आलोच्य काल में विद्याध्ययन के लिये श्रम अपेक्षित था। तपोदत्त ब्राह्मण ने तप से विद्या प्राप्त की थी और इन्द्र ने प्रकट होकर कहा कि बिना अध्ययन विद्या प्राप्ति का यत्न बालू से पुल बनाने के समान ही है।[2] इत्सिंग ने लिखा है कि बौद्ध धर्म के अन्तर्गत शिक्षा का विशेष स्थान था क्यों कि शिक्षा की अवहेलना से धर्म प्रसार सम्भव नहीं था ।[3]

शिक्षा के महत्व को बताते हुये कहा गया है कि शिक्षा माता की भाँति सन्तान की रक्षा करती है, पिता की भाँति कल्याण साधन में लगाती है एवं पत्नी की भाँति आनन्द तथा सुविधा प्रदान करती है। इससे ऐश्वर्य, वास्तविक प्रकाश तथा कीर्ति की उपलब्धि होती है, अर्थात् विद्या कल्पलता की भाँति सब कुछ प्रदान करती है। विदेश गमन अथवा यात्रा के समय शिक्षा हमारी सहायता करती है। कल्हण की राजतरंगिणी से भी उपर्युक्त विचारों का अनुसमर्थन होता है।[4]

अज्ञानता अन्धकार के समान है।[5] शास्त्र एक ऐसी दिव्य दृष्टि है, जिससे भूत, भविष्य और वर्तमान का अनुमान किया जा सकता है। इसके अध्ययन के बिना विशाल नेत्रों के होते हुए भी मानव अन्धे के ही समान है।[6] अशिक्षित बालक उसी

---

1. विद्याविहीन:पशु: भर्तृहरि, नीतिशतक, 16,
2. कथासरित्सागर: 7/6/20-24.
3- तकाकुसु प्रकाशन : बुद्धिस्ट प्रैक्टिसेज इन इण्डिया. पृ० 116.
4. राजतरंगिणी, 4.530, स्टैन, 1, पृ० 170-171.
5. विष्णुपुराण, 6. 5. 62- अद्यतम ज्ञानम् ।
6- दिव्यं हि चक्षुर्भूत भवद् भविष्यत्सु व्यवहित:।
प्रकृष्टादिषु च विषयेषु शास्त्र नामाप्रतिहतवृत्ति:।।
- दशकुमारचरित आठवाँ उच्छ्वास ।

तरह शोभा नहीं पाता जैसे हंसो के मध्य बगुला ।[1] शिक्षा के द्वारा विकसित बुद्धि ही पशु और मनुष्य में अन्तर लाती है। विद्या लौकिकऔर पारलौकिक समस्त सुखों को देने वाली है,गुरूओं का भी गुरू है ऐसा माना गया है।[2]पश्चिमी विचारकों का भी यह मत रहा है कि शिक्षा ही नैतिक तन्तुओं को विमल और पुष्ट करती है जिससे व्यक्ति के आचरण एवं व्यवहार परिमार्जित एवं परिष्कृत होता है।[3]

शिक्षा हमें समाज में उपयोगी एवं विनीत नागरिक के रूप में रहने योग्य बनाती है।यह अप्रत्यक्ष रूप में इहलोक तथा परलोक दोनों के लिए विकास में सहायता देती है।शिक्षा मात्र अर्थसाधन नहीं चित्त को प्रसन्न करने वाली तथा सिर को उठाने वाली दोषरहित सम्पत्ति मानी जाती थी ।[4] विवेच्य काल में शिक्षा का कितना महत्त्व था ? इसका अनुमान तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षालयों यथानालन्दा,विक्रमशिला आदि के द्वारा भी लगाया जा सकता है।जिनकी महत्ता का उल्लेख विदेशी यात्रियों ने अपनी यात्रा-वृत्तान्तों में किया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि शिक्षा तत्कालीन समाज में अन्तर्ज्योति एवं शक्ति का वह स्रोत थी जो शारीरिक,मानसिक एवं आत्मिक शक्तियों के संतुलित विकास से मनुष्य के व्यक्तित्व में परिवर्तन लाती थी तथा उसे श्रेष्ठ बनाती थी ।पश्चिमी विचारक पेस्टालाजी भी शिक्षा के इसी रूप की कल्पना करते हैं।[5]

---

1. न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा । सु०र०भा०, 40,21.
2. डॉ० गीता देवी : पूर्वोक्त, पृ० 5.
3. औलिया. सोसल डेवलपमेन्ट एण्ड एजुकेशन,पृ० 248.
4. भोज प्रबन्ध, पृ० 329.
5. पेस्टालाजी : हाऊ गर्ट टीचेस हर चिल्ड्रेन, पृ० 156-157

शिक्षा के आदर्श और उद्देश्य:

सुदूर अतीत से भारतीय संस्कृति की अविच्छिन्न धारा प्रवहमान है। इस संस्कृति की महाधारा में यद्यपि अन्यान्य संस्कृतियों की लहरें आयी और इसी में मिलती गयीं फिर भी अन्य संस्कृतियों के नवीन तत्वों को आत्मसात करती भारतीय संस्कृति अब भी अपनी विशिष्टताओं के साथ प्रवहमान हैं। इसी पावन संस्कृति के तट पर बैठकर हमारे देश के ऋषि मनीषियों ने जीवन के विभिन्न रहस्यों का अवलोकन तथा पूर्ण विवेचन किया है। इन्हीं भावनाओं को भावी पीढ़ी को शिक्षा द्वारा सम्प्रेषित किया जाता था। ऐसी शिक्षा आत्म साक्षात्कार को बल देती थी। आत्म निरीक्षण और आत्म बोध के लिये शिक्षा को आवश्यक समझा जाता था। आत्म दृष्टि से ही जीवन के शाश्वत मूल्यों का ज्ञान, जीवन के सत्य का ज्ञान सम्भव था। इस प्रकार सम्पूर्ण जीवन के सुव्यवस्थित निर्वहन में शिक्षा की भूमिका प्रमुख थी।

भारत का आदर्श प्राचीन शिक्षा प्रणाली में सुरक्षित है। इसमें हमें राष्ट्रीय सभ्यता की आत्मा का परिचय मिलता है। समय और परिस्थितियों के परिवर्तन के फल स्वरूप शिक्षा के स्वरूप और आदर्श में परिवर्तन भी ही होता रहा लेकिन इसकी अपनी विशेषतायें बनी रहीं। प्राचीन शिक्षा प्रणाली का आदर्श अध्यात्म प्रधान था लेकिन विवेच्य युग में इसमें क्रमशः परिवर्तन परिलक्षित होता है और शिक्षा का भौतिकता प्रधान स्वरूप स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। भोज प्रबन्ध[1] से ज्ञात होता है कि राजकीय प्रतिष्ठा और सम्मान के लिए व्यक्ति शिक्षा ग्रहण करते थे। पण्डित दामोदर के अनुसार[2] राज्य के अनुग्रह से राजकीय पद प्राप्त करने के लिए ही लोग शिक्षा प्राप्त करते थे। विद्या के क्षेत्र में पाण्डित्यपूर्ण प्रदर्शन शब्द-चमत्कार और वाक्चातुर्य का महत्व कालान्तर में अधिक बढ़ गया।[3]

---

1. भोज प्रबन्ध, श्लोक 224.
2. उक्ति-व्यक्ति प्रकरण, पृ० 77.
3. डॉ० गीता देवी : पूर्वोक्त, पृ० 16.

भोज प्रबन्ध[1] में भी वक्तृत्वरहित विद्वान् की विद्या को उसी प्रकार व्यर्थ माना गया है जिस प्रकार कृपण का धन। क्षेमेन्द्र के अनुसार[2] विद्या से तर्क द्वारा अपना प्रभुत्व स्थापित करना, बुद्धि का उपयोग दूसरे की प्रवंचना में लिया जाता था परन्तु इसके बाद ही क्षेमेन्द्र ने[3] यह भी कहा है कि वास्तविक शिक्षानुरागी परोपकार में ही अपना जीवन उत्सर्ग कर देता है, वे शौच-अशौच, सत्य और मिथ्या का भेद जानते हैं और चमत्कार दिखाने में अपनी विद्या का अपव्यय नहीं करते। इस प्रकार स्पष्ट है कि परिवर्तनों के पश्चात् भी अध्ययन काल में शिक्षा के मूलभूत आदर्श यथावत् थे।

देश काल तथा परिवेश के अनुसार शिक्षा के उद्देश्यों में परिवर्तन होते रहना एक स्वाभाविक सामाजिक प्रक्रिया है। इस आधार पर जीविकोपार्जन, व्यक्तित्व का विकास, चरित्र-निर्माण, शारीरिक विकास, धार्मिक वृत्तियों का उत्थान, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास. जीवन में पूर्णता का विकास, बौद्धिक विकास आदि तत्कालीन शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य कहे जा सकते हैं परन्तु सबमें एक ही समानता होती है। वह यह कि बालक अपने समाज को समझ सके, उस समाज में अपना उचित समायोजन करके, जीविकोपार्जन करतेहुए समाज केविकास में अपना योग दे। वस्तुतः उपर्युक्त शिक्षा के उद्देश्य जीवन की व्यावहारिकता से अनुप्राणित थे।

प्राचीन भारत में धर्म की परिधि अत्यन्त व्यापक थी। मानव जीवन के सभी क्रियाकलाप धर्मानुगत होते थे। धर्म का अनुशासन शिक्षा के क्षेत्र में विशेष महत्व रखता था। भारत में ज्ञान, ज्ञान के निमित्त न होकर धर्म के मार्ग पर चलकर मोक्ष प्राप्ति के क्रमिक विकास की प्रयास की एक कड़ी के रूप में माना जाता था इसीलिए अध्यात्म विद्या को सभी विद्याओं में श्रेष्ठ कहा गया है।

---

1. भोज -प्रबन्ध, पृ० 77.

2. विद्या विवादाय धनं मदाय. प्रज्ञाप्रकर्षःपरवंचनाय। चिचार 3.

3. वहीं, श्लोक 28.

मुकर्जी[1] के अनुसार भारतीय आर्यों की प्रथम साहित्यिक वाणी ऋग्वेद की रचना के लगभग एक हजार वर्ष बाद भी भारतीय साहित्य की धार्मिक भावनायें अनुप्राणित करती रही है। विवेच्य युग में शिक्षा का यह उद्देश्य विद्यार्थी को समाज का एक धर्मनिष्ठ सदस्य बनाने में बहुत सहायक था। कुल्लूक के अनुसार[2] शौच, पवित्रता, आचार, स्नान -क्रिया, अग्निकार्य और सांध्योपासन आदि ब्रह्मचारी का धर्म था, जिसकी शिक्षा गुरू द्वारा .. उपनयन के पश्चात् प्राप्त होती थी। इसके साथ ही उसे धर्म के पालन में प्रमाद न करने का निर्देश दिया गया था, जिससे उसका धर्मनिष्ठ व्यवहार बना रहे। धार्मिक निर्देशों में त्रुटि होने पर प्रायश्चित्त का विधान बताया गया था। सोमदेव के अनुसार[3] अनुशासनापूर्वक त्रयीविद्या [चारोवेद, षडंग और चतुर्दश विद्यायें] का अध्ययन करने वाला व्यक्ति ब्रह्मणादि चारों वर्णों के आचार व्यवहार में बहुत पटु हो जाता है और धर्म तथा अधर्म की स्थिति को जान जाता है। भारतीय शिक्षा के मूलाधार वेदों का अल्प अध्ययन भी लोक एवं परलोक के लिए अन्य अध्ययन से दुगुना महत्व रखता है।[4] वेदों के अध्ययन द्वारा व्यक्ति तुरन्त भौतिक दुःखों से मुक्ति पा जाता है।[5]

इस प्रकार स्पष्ट है कि शिक्षार्थी इन्हीं धर्ममूलक प्रवृत्तियों के आधार पर लौकिक एवं पारलौकिक जीवन को समझाने और विभिन्न उत्तरदायित्वों को सम्पन्न करने में सक्षम हो जाता है। सभ्य समाज की निरन्तरता और सांस्कृतिक धरोहर इन्हीं धार्मिक प्रवृत्तियों या उनसे जनित नैतिक मूल्यों पर आधारित होती है। इस प्रकार की शिक्षा मनुष्य को व्यक्तिगत रूप में सुखपूर्वक जीवन बिताने के लिए ही तैयार नहीं करती थी अपितु व्यक्ति में सामाजिक उपयोगिता एवं धार्मिक कर्त्तव्यों की ओर उन्मुख होने की क्षमता विकसित करती थी।

---

1. आर0के0 मुकर्जी : एन्शियण्ट इण्डियन एजूकेशन, पृ0 11.
2. मनु पर कुल्लूक : 2.69, 5.136
3. नीतिवाक्यामृतम्, पृ0 22, श्लोक 57.
4. व्यासस्मृति, 1/36.
5. नारदस्मृति, 1/79.

वर्तमान शिक्षा प्रणाली में उपर्युक्त तत्वों का अभाव दिखायी देता है। इस सम्बन्ध में डॉ० राधाकृष्णन्[1] का कथन है कि भारत सहित सारे विश्व के कष्टों का कारण यह है कि शिक्षा केवल मस्तिष्क के विकास तक परिसीमित रह गयी है। उसमें धार्मिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का समावेश नहीं है।

विवेच्य काल में शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य था, व्यक्ति के चरित्र का उत्थान। आचार्य शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को अपनी देख-रेख और प्रत्यक्ष नियन्त्रण में रखते थे। ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए उज्ज्वल चरित्र का होना आवश्यक है। इसके लिए विद्यार्थियों को सदाचार के पाठ पढ़ाये जाते थे। गुरू के सान्निध्य में रहने वाले ब्रह्मचारी प्राय: गुरू के शील तथा सदाचार से प्रभावित होते थे।[2] तथा निष्ठापूर्वक उनके निर्देशों का पालन करते थे। सामान्यत: विद्यार्थी के लिए स्वच्छन्द न होना, गुरू की आज्ञाओं का पालन करना, नियमपूर्वक रहना और विनीत होना आदि निर्देश थे।[3] चरित्र और आचरण का इतना अधिक महत्व था कि समस्त वेदों का ज्ञाता पण्डित अपनी सच्चरित्रता के कारण माननीय और पूजनीय था।[4] सुकरात ने भी शील को ही ज्ञान माना है। हरबर्ट के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य ऐसी भावनाओं का विकास है जो उसमें सदाचार के नियमों को समझने तथा उसके अनुसार आचरण करने की शक्ति दे।[5] भारत के मनीषियों ने इस सत्य का साक्षात्कार पहले ही कर लिया था। प्राचीन भारत की शिक्षा प्रणाली में चरित्र निर्माण की उपादेयता पर अधिक ध्यान दिया जाता था। वस्तुत: सच्चरित्रता व्यक्ति का भूषण मानी जाती है। तत्कालीन समाज में सत्कर्मों से ही चरित्र का निर्माण एवं उत्थान माना गया था। ये सत्कर्म नैतिक मूल्यों से संचालित होते थे। शिक्षावधि में ही व्यक्ति के आचरण और चरित्र को उन्नत करने का प्रयास किया जाता था।

---

1. एस०के०अग्रवाल: शिक्षा के तात्विक सिद्धान्त, पृ० 49.

2. नीतिशिक्षामृतम्, पृ० 25, श्लोक 70.

3. वहीं, पृ० 64, श्लोक 5.

4. मनु पर कुल्लूक, 2.18

5. रस्क : डॉक्ट्रिन्स आफ ग्रेट एजुकेटर्स, पृ० 210.

मनुष्य का आचरण सुन्दर बनाना शिक्षा का परम उद्देश्य है। विवेच्य-युगीन भारत में सदाचार की शिक्षा विद्यार्थी को उपदेशों और धार्मिक विधियों के साथ ही शिक्षा अवधि में क्रियात्मक जीवन अभ्यास के माध्यम से प्रदान की जाती थी ताकि उसके अन्दर सदाचार और सच्चरित्रता स्वतःस्फूर्त हो, जिससे परिणामस्वरूप विद्यार्थी का आचरण सुन्दर और सभ्य हो और वह चरित्रवान बनकर समाज में संरचनात्मक भूमिका का निर्वाह करें। अनुशासन को चरित्र निर्माण का प्रमुख अंग माना जाता था। ब्रह्मचर्यावधि में कठोर अनुशासन, शिष्टाचार, सदाचार, शिक्षार्थी के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास एवं आदर्श चरित्र का निर्माण विवेच्य युग के शैक्षणिक जीवन का उद्देश्य था। ब्रह्मचारी के लिए कृत्यकल्पतरु में एक विस्तृत अनुशासन संहिता का "इन्द्रिय-निग्रह" नामक अध्याय में वर्णन है।[1]

शिक्षा का एक उद्देश्य व्यक्तित्व का विकास भी था किन्तु व्यक्तित्व के विकास सम्बन्धित तत्कालीन धारणा भौतिकवादी युग की धारणा से भिन्न थी। कर्मोपासना में प्रवृत्त होकर शास्त्र सम्मत विधियों से अन्तःकरण की शुद्धि करके ज्ञान प्राप्त करना व्यक्तित्व के विकास का एक प्रमुख सोपान माना जाता था। बालक के सर्वांगीण व्यक्तित्व के विकास को स्वाभाविक गति प्रदान करने के लिए ब्रह्मचारी से आत्मसंयम की अपेक्षा की जाती थी। आचार्य के संरक्षण में विद्यार्थी की शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों का विकास तथा भौतिक भावनाओं एवं प्रवृत्तियों का स्फुरण होता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त आत्मसम्मान की भावना, आत्मविश्वास का उपयोग और आत्मसंयम का महत्व विद्यार्थी के हृदयपटल पर अंकित कर दिया जाता था। इस प्रकार व्यक्तित्व के विकास के निमित्त अर्जित ज्ञान विवेक एवं आत्मविश्वास आवश्यक थे। प्रसिद्ध विचारक टी०पर्सीनन[2] के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में अपने विशेष गुण तथा योग्यताएं होती हैं। व्यक्ति के इन जन्मजात गुणों का विकसित करना और उसको इन गुणों को प्रयोग करने की क्षमता देना शिक्षा का मुख्य एवं सर्वमान्य उद्देश्य है।

---

1. "इन्द्रिय-निग्रह" एवं ब्रह्मचारिनियमः नामक अध्याय, 14,15.
2. एस०के०अग्रवाल : थ्यिरी आफ एजुकेशन, पृ० 59.

विवेच्य युग में विद्यार्थी को अपनी रूचि तथा आवश्यकता के अनुसार विशेष दिशा में विकास करने की पूर्ण स्वतंत्रता एवं अवसर प्राप्त थे। इस प्रकार की शिक्षा एवं ज्ञान से मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्कर्ष होता था। तत्कालीन शिक्षा संकुचित एवं एकांगी नहीं थी। व्यक्तित्व शब्द अपने मूल में बड़ा व्यापक है, जिसके अन्तर्गत शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं संवेगात्मक सभी प्रकार की विशेषताएँ समाहित हो जाती है। इस व्यापक अर्थ के अनुरूप ही शोधकाल में शरीर, मन और बुद्धि सभी क्षेत्रों में शिक्षार्थी का उन्नयन करना ही शिक्षा का दायित्व था। विभिन्न प्रकार के निर्देशों, संयमों और नियमों[1] से मनुष्य का जीवन सुव्यवस्थित होता था जिससे उसके भीतर आत्मसंयम, आत्मचिन्तन, आत्म-विश्वास, आत्मविश्लेषण, विवेकभावना, न्याय प्रवृत्ति और आध्यात्मिक वृत्तियों का उदय होता था जिसके परिणामस्वरूप विद्यार्थी में विवेक और न्याय की शक्ति उत्पन्न की जाती थी।[2]

शोधकाल के ग्रन्थों में शैक्षणिक विषयों की विविधता का उल्लेख यह प्रमाणित करता है कि शिक्षा का व्यक्तित्व के विकास से गहरा तादात्म्य था। बाणभट्ट के अनुसार[3] गुरू अपने शिष्यों को नियमित रूप से वेद, व्याकरण, मीमांसा आदि की शिक्षा देता था। गुरूकुलों में वेदों का निरन्तर पाठ हुआ करता था। यज्ञ की अग्नि जला करती थी। अग्निहोत्र की क्रियाएँ हुआ करती थीं। विश्वदेव की बलि दी जाती थी। विधिपूर्वक यज्ञ का सम्पादन हुआ करता था। ब्राह्मण उपाध्याय ब्रह्मचारियों को पढ़ाने में संलग्न थे। दण्डी ने भी पाठ्य विषयों की एक लम्बी सूची दी है।[4] उपरोक्त मत की पुष्टि अलबेरूनी से भी होती है। उसके अनुसार विज्ञान और साहित्य की अन्य अनेक शाखाओं का विस्तार हिन्दू करते हैं तथा उनका साहित्य सामान्यतः अपरिसीम है। इस प्रकार मैं अपने ज्ञान के अनुसार उनके साहित्य को न समझ सका।[5]

---

1. कुल्लूक, 2, 69: 5. 136
2. अल्तेकर: पूर्वोक्त पृ0 10.
3. हर्ष चरित: पृ0 130.
4. सभी लिपियाँ, भाषाएँ, वेद, वेदांग, काव्य, नाट्यकला, धर्मशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, तर्कशास्त्र, मीमांसा, राजनीति, संगीत, छन्द, रसशास्त्र, युद्ध विद्या, द्युत, चौर्य विद्या आदि।

   –दशकुमारचरित, पृ0 21-22.

5 अल्बेरूनीज इण्डिया, भाग 1, पृ0 159.

शिक्षा का महत्वपूर्ण उद्देश्य सांस्कृतिक नैरन्तर्य को बनाये रखना भी था। शिक्षा उदीयमान संतति को उत्तम प्राचीन परम्पराओं को ग्रहण करके उनके अनुसार आचरण करना ही नहीं सिखाती बल्कि इन परम्पराओं को आने वाली पीढ़ियों तक पहुँचाना भी सिखाती है। वैदिक साहित्य के संरक्षण का उत्तरदायित्व सम्पूर्ण आर्य जाति पर था।[1] ज्ञान शिक्षकों के अध्यापन द्वारा विद्यार्थियों तक पहुँचता था। शिक्षक चलते फिरते पुस्तकालय की भाँति थे जिनके भीतर महान् ज्ञानराशि सुरक्षित ही नहीं थी अपितु अपनी रचनाओं से वे उनमें समृद्धि भी करते थे। शास्त्रसम्मत कर्तव्यों का पालन करके ही मानव अपनी सांस्कृतिक विरासत का पोषण एवं रक्षण कर सकता है। ऐसी धारणा समाज में विद्यमान थी। विद्यार्थी सम्पूर्ण समाज की आशा था। धर्मशास्त्रकार हीवैदिक संस्कृति के प्रवक्ता थे और धर्मशास्त्र संस्कृति तथा सामाजिक व्यवस्था के आधार तत्व थे। इस प्रकार तद्युगीन शिक्षा को संस्कृति के साधन के रूप में कार्य करना पड़ता था। आटावे ने लिखा है कि समाज के सांस्कृतिक मूल्यों और व्यवहार के प्रतिमानों को अपने सदस्यों को प्रदान करना शिक्षा का कार्य है।[2] अल्बेरूनी के अनुसार[3] वसुक नामक ब्राह्मण ने इस आशंका से वेद को लिपिबद्ध करने और उसकी व्याख्या करने का उत्तरदायित्व स्वीकार किया था कि कहीं वेद विलुप्त न हो जायें, क्यों कि वह देखता था कि लोगों का चरित्र गिरता जा रहा है और लोग धर्म और कर्त्तव्यों से च्युत होते जा रहे हैं। उपरोक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि सांस्कृतिक विरासत की रक्षा, उसका विकास और उसे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाना शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य था।

---

1. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ0 13-14.

2. एस0के0 अग्रवाल: शिक्षा के तात्विक सिद्धान्त, पृ0 47.

3. अल्बेरूनीज इण्डिया 1, पृ0 126-127.

विवेच्य युग में उत्तम सांस्कृतिक परम्पराएं सामान्य जनता तक सुरक्षित हो गयी थी। तत्कालीन लेखकों में मेधातिथि, विश्वरूप, अपरार्क आदि के अनुसार विद्यार्थी को गुरू के सान्निध्य में रहकर वेद का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना अपेक्षित था तथा साथ ही धर्म की समस्त धाराओं को समझना भी आवश्यक था।[1] लक्ष्मीधर ने बृहस्पति को उद्धृत करते हुए यह सुझाव दिया है कि ब्राह्मणों का पहला कर्त्तव्य था कि वेद पढ़े, तदनन्तर स्मृति और सदाचार का अनुपालन करें।[2] नीलकण्ठ शास्त्री[3] के अनुसार सामान्यतः साधारण शिक्षा पुराणों, रामायण और महाभारत जैसे साहित्य के परायण तथा उसकी व्याख्या के द्वारा की जाती थी। इस प्रकार संस्कृति का संरक्षण एवं विस्तार तद्युगीन शिक्षा का परम लक्ष्य था। यही कारण था कि प्रत्येक शिक्षार्थी को प्राचीन साहित्य का कुछ अंश अनिवार्यतः कण्ठस्थ करना पड़ता था।

शिक्षा का उद्देश्य केवल पुस्तकीय ज्ञान नहीं था।[4] विवेच्ययुगीन शिक्षा का एक उद्देश्य बालक के शारीरिक शक्तियों का विकास करना भी था। ऐसा माना जाता था कि स्वस्थ शरीर के बिना स्वस्थ मस्तिष्क का निर्माण असम्भव है। हम अपने संकल्पों में तभी दृढ़ हो सकते हैं जब कि शरीर से भी सुदृढ़ एवं बलिष्ट हो। शरीर को कर्त्तव्य साधना का मूल समझा जाता था। रूसो का मत था कि बालकों के लिए आरम्भ में खेल-कूद तथा व्यायाम का प्रबन्ध होना चाहिए जिससे उसकी शारीरिक शक्तियों का विकास हो और वह पूर्णरूप से स्वस्थ हो जाय।[5] ग्रीस के प्राचीन राज्य स्पार्टा की शिक्षा में भी शारीरिक विकास का उद्देश्य मुख्य था।

---

1. मेधातिथि, मनु० 3, 1, याज्ञवल्क्य 1, 57: अपरार्क, पृ० 74-75.

2. कृत्यकल्पतरू, गृहस्थ काण्ड, पृष्ठ 252.

3. नीलकण्ठ शास्त्री : चोलवंश, पृ० 486.

4. चोपरा, पुरी एवं दास: ए सोशल कल्चरल एण्ड इकानामिक हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ० 151-152.

5. एस० के० अग्रवाल : शिक्षा के तात्विक सिद्धान्त, पृ० 45.

वेदों के बाद द्वितीय महत्वपूर्ण विषय शस्त्र-विद्या माना गया।[1] ब्राह्मण एवं क्षत्रिय दोनों को ही शस्त्र विद्या में निपुणता प्राप्त करते हुए चित्रित किया गया है। विष्णुपुराण एवं अग्निपुराण में भी धनुर्वेद की शिक्षा का उल्लेख है।[2] इनके अतिरिक्त राजतरंगिणी[3] कल्चुरी एवं चालुक्यवंश के शिलालेखों[4] से भी स्पष्ट है कि पाठ्यविषयों में शस्त्र विद्या की प्रमुखता थी। शस्त्र विद्या के साथ बाहुयुद्ध विद्या में निपुणता प्राप्त करना शारीरिक विकास के लक्ष्य के अनुपम उदाहरण है। श्री दत्त[5] नामक ब्राह्मण का अस्त्र विद्या एवं बाहुविद्या में निपुणता प्राप्त करने का उल्लेख किया गया है। जिसकी शिक्षा द्वारा शारीरिक विकास का उद्देश्य पूर्ण होता था।

तत्कालीन भारत में विद्यार्थी का मानसिक विकास शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य था। मानसिक विकास का तात्पर्य मनुष्य की समस्त शक्तियों, जैसे - विचार शक्ति, कल्पना शक्ति एवं स्मरण शक्ति आदि के विकास से है।[6] तत्कालीन ऐतिहासिक साक्ष्यों में बालक की मानसिकशक्तियों को बढ़ाने वाली विद्याओं का उल्लेख किया गया है। दशकुमार[7] चरित में दण्डी ने राजवाहन के लिए ऐसी ही अनेक विद्याओं का उल्लेख किया है। अलतेकर के अनुसार पाठशाला मेंभी ब्रह्मचारी प्रतिदिन निश्चित समय तक समवेत स्वर में पठित पाठ की आवृत्ति करते थे। इस पद्धति के द्वारा प्राचीनकाल में विद्यार्थी की स्मरण शक्ति बड़ीप्रखर हो जाती थी। जिस काल में पुस्तकें दुर्लभ रहीं हों, स्मरण शक्ति के विकास पर जोर देना

---

1. डॉ० वाचस्पति द्विवेदी : कथा सरित्सागर एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ०180.
2. कृत्यकल्पतरु, ब्रह्म०, पृ० 22 पर उद्धृत विष्णुपुराण, अग्निपुराण 1-17.
3. राजतरंगिणी, 8/30, 18, 1071, 1345.
4. एपिग्राफिया इण्डिका, 4-158.
5. डॉ० वाचस्पति द्विवेदी : कथासरित्सागर : एक सांस्कृतिकअध्ययन, पृ०180.
6. एस०के०अग्रवाल : पूर्वोक्त, पृ० 42-44.
7. दशकुमारचरित : पूर्वपीठिका, पृ० 47.

स्वाभाविक ही था।[1] इत्सिंग [2] ने स्मरण शक्ति बढ़ाने के लिए कतिपय ऐसी क्रियाओं का गूढ़ भाषा में अस्पष्ट रूप में वर्णन किया है जिसके दस या पन्द्रह दिन के अभ्यास में ही विद्यार्थी यह अनुभव करने लगते थे कि उनमें विचारों का उत्स ही फूट निकला है और वे एक बार सुन लेने से ही कुछ भी स्मरण कर लेते थे। वह लिखता है कि यह असत्य नहीं है क्योंकि मैंने स्वयं ऐसे व्यक्तियों से भेंट की है।

हमारे अध्ययनकाल में शिक्षा के उद्देश्यों एवं आदेशों में स्पष्ट अन्तर परिलक्षित होने लगता है। इस काल के अनेकानेक स्रोतों के परिवेक्षण से प्रतीत होता है कि अब शिक्षा का उद्देश्य जीविकोपार्जन और समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने से भी सम्बन्धित होने लगा था। शिक्षा ब्रह्म विद्या के अतिरिक्त अन्य विद्याओं को प्राप्त करने का माध्यम बन रही थी। जैसा कि नारद [3] का कथन है कि यदि कोई अपने शिल्प की शिक्षा प्राप्त करने का इच्छुक हो तो स्वबान्धवों की आज्ञा लेकर शैक्षणिक अवधि नियत करके गुरू गृह में रहे। ऐसी स्थिति में आचार्य उसे अपने घर पर शिक्षा देगा तथा भोजनादि की व्यवस्था करेगा।

मानव आत्मा, मन, बुद्धि और शरीर का समन्वय है। विवेच्ययुगीन शिक्षा के आदर्श और उद्देश्य इन चारों के संतुलित अभ्युत्थान में सहायक थे। आधुनिक विचारक यह स्वीकार करते हैं कि प्राचीन शिक्षा प्रणाली का उद्देश्य आध्यात्मिक और नैसर्गिक था। इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्राचीन मनीषियों ने सांसारिक जीवन और समाज सेवा को भुला दिया था अपितु सत्य यह है कि हमारी प्राचीन शिक्षा प्रणाली ने उन आदर्शों को भुलाया नहीं बल्कि उसे समेटकर व्यक्तित्व का विकास किया, समाज की समुन्नति की, ईश्वरोपासना

---

1. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ0 122.
2. तककुसः रेकार्ड आफ दि बुद्धिस्ट रैलिजन बाई इत्सिंग, पृ0 183,
   अलतेकर, पूर्वोक्त, पृ0 122.
3. नारद 5, 16-17, पृ0 133 तथा मिताक्षरा में उद्धृत 1.184

में लीन होकर पुरुषार्थों की पूर्ति और तीन ऋणों के मुक्ति के योग्य मानव को बनाने में पूर्ण योग दिया है। तत्कालीन शिक्षा के उद्देश्यों के कतिपय विचार पाश्चात्य शिक्षाशास्त्रियों के विचारों से काफी साम्य रखते हैं जैसे -प्राचीन यूनान तथा सुधारकालीन यूरोप की व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाने की शिक्षा ,।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि हमारे अध्ययन काल में क्रमशः किस प्रकार शिक्षा के उद्देश्यों में क्रमिक परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है किन्तु उसके साथ ही साथ पूर्वकालीन शिक्षा के उद्देश्यों के तारतम्य को पूर्णरूप से नकारा भी नहीं जा सकता है। अधीतकाल में शिक्षा का उद्देश्य जहाँ एक ओर प्राचीन सिद्धान्तों और आदर्शों के अनुरूप था वहीं व्यावहारिक रूप में पर्याप्त परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य और आदर्श व्यक्ति के जीवन दर्शन का सर्वांगीण विकास करना था ।

==============0==============

द्वितीय अध्याय

शिक्षा संरचना

(क) शिक्षा और संस्कार

(ख) प्रारम्भिक शिक्षा

(ग) शिक्षा और वर्ण व्यवस्था

शिक्षा और संस्कार

प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली को समझने केलिए शैक्षणिक संस्कारों का सांगोपांग अध्ययन अति-आवश्यक है। प्राचीन भारत में शैक्षणिक संस्कार शिक्षा के महत्वपूर्ण अंग माने जाते थे। शिक्षा वस्तुत: मनुष्य के सहज विकास की, उसमें अनिवार्य सभी योग्यताएँ उत्पन्न करने की प्रक्रिया है। अपने मूलरूप में संस्कार का भी यही उद्देश्य है। इस प्रकार संस्कार शिक्षा के प्राणतत्व है।

संस्कार का सामान्य अर्थ है किसी वस्तु को ऐसा रूप देना जिसके द्वारा वह अधिक उपयोगी बन जाय।[1] शबर के मतानुसार संस्कार के माध्यम से व्यक्ति किसी कर्म के योग्य हो जाता है।[2] "संस्कार प्रकाश में "संस्कार" को शरीर एवं आत्मा का उच्च गुण बताया गया है।"[3] तंत्रवार्तिक में योग्यता को धारण करने वाली क्रिया ही संस्कार कही गयी है।[4] संस्कारों के माध्यम से मनुष्य जीवन की सभी भावी क्रियाओं को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने में अभ्यस्त होता है।[5] संस्कार प्रकाश में कहा गया है कि जिस प्रकार चित्र कर्म में सफलता प्राप्त करने के लिए विविध रंग अपेक्षित है। उसी प्रकार शुद्धता या चरित्र निर्माण भी विभिन्न संस्कारों द्वारा होता है।[6] कुल्लुक के अनुसार संस्कार एक और

1-जैमिनी सूत्र, 3.1.3 पर शबर की टीका, वेदान्त सूत्र पर शांकर भाष्य 1.1.4; काणे: धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ0 176।.

2. पी0वी0काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास. प्रथम भाग, पृ0 176.

3. कृत्य0ग्रा0, भूमिका, पृ0 50 पर उद्धृत संस्कार प्रकाश, पृ0 132.

4. तंत्रवार्तिक, पृ0 1078.

5. "यस्त्वारिंशत्संस्कारै: संस्कृत:" आ0ध0सू0 पर हरदत्त, 1.1.1.8

6-वीर मित्रोदय संस्कार प्रकाश, भाग 1, पृ0 139. चित्रकर्मयथानेकै रंगैरुन्मील्यते शनैः ब्राह्मण्यमपितद्वत् स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकम्।

परलोक में यज्ञ आदि के फलस्वरूप शुद्धता और इहलोक में वेदाध्ययन का अधिकार प्रदान करते हैं।[1] सामान्यतया यह समझा जाता था कि संस्कारों के अनुष्ठान से संस्कृत व्यक्ति में विलक्षण तथा अवर्णनीय गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है।[2]

वेदान्त सूत्र में शंकराचार्य ने संस्कारों को दो भागों में विभक्त किया है। ये संस्कार दोषों को दूर करते हैं और गुण उत्पन्न करते हैं।[3] कृत्यकल्पतरू में संस्कार के दो भेद बताये गये हैं- 1. जिसके द्वारा व्यक्ति अन्यान्य क्रियाओं के योग्य हो जाता है। जैसे - उपनयन, जिससे बालक वेदाध्ययन के योग्य हो जाता है। 2. दोषों से मुक्ति। जैसे- जात कर्म, संस्कार से वीर्य और गर्भाशय के दोष दूर हो जाते है।[4] हरदत्त ने गर्भाधान जैसे संस्कारों के आपात काल के कारण न हो पाने पर उपनयन किया जाना सम्भव बताया है परन्तु उपनयन के न होने पर विवाह अनधिकृत बताया।[5] इस प्रकार आलोच्य-काल में संस्कारों का व्यक्ति के शैक्षणिक एवं सामाजिक जीवन में महत्व प्रमाणित होता है।

वस्तुत: संस्कारों की संख्या को निश्चित करना कठिन कृत्य है क्यों कि कहीं षोडश संस्कारों का उल्लेख है तो कहीं चालीस। यदि सब प्रकार की शोधक कर्मकाण्डीय क्रियाओं की गणना की जाय तो इनकी संख्या सौ से अधिक है।[6] उलतेकर के अनुसार छात्र जीवन से सम्बन्ध रखने वाले संस्कार अनेक हैं।

---

1. कुल्लूक, 2.27, मेधातिथि, 2.26-26
2. वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश, भाग 1, पृ० 132.
3. हेरम्ब चटर्जी शास्त्री : स्टडीज इन सम आस्पेक्ट्स आफ हिन्दू संस्काराज इन एन्श्येन्ट इण्डिया इन द लाइट आफ संस्कार तत्व आफ रघुनन्दन, पृ० 8.
4. कृत्य0क0 काण्ड, भूमिका, पृ० 50.
5. गौ0 धर्मसूत्र पर हरदत्त का भाष्य 1.1.6
6. विश्वनाथ शुक्ल : हिन्दू समाज व्यवस्था, पृ० 363.

इनके अध्ययन से शिक्षा के सिद्धान्त और तत्सम्बन्धी प्रयोगों के विविध रूपों के चित्र सामने आते हैं।[1] फिर भी तद्युगीन धर्मशास्त्रों के अनुशीलन के आधार पर विवेच्ययुग में शिक्षा सम्बन्धी प्रमुख संस्कार निम्नलिखित हैं:-

1. विद्यारम्भ संस्कार	3. उपाकर्म संस्कार	5. केशान्त संस्कार
2. उपनयन संस्कार	4. उत्सर्जन संस्कार	6. समावर्तन संस्कार

विद्या सम्बन्धी अनेक प्रकार के नये संस्कारों के समावेश से यह ज्ञात होता है कि विवेच्ययुगीन समाज में कर्मकाण्ड का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया था। किसी भी कार्य के लिए एक सुनिश्चित कर्मकाण्ड की व्यवस्था स्वदेश्य की गयी थी।

1. विद्यारम्भ संस्कार :

हमारे अध्ययनकाल में ।700ई0 से ।200ई0। शैक्षणिक संस्कारों के परम्परागत स्वरूप में भी कुछ परिवर्तन हुए। उपनयन से पूर्व विद्यारम्भ नामक संस्कार का उल्लेख आलोच्य काल में प्राप्त होता है जिसके सम्पादन के बाद बालकों की प्रारम्भिक शिक्षा का शुभारम्भ होता था। धर्मशास्त्रों में विद्यारम्भ,[2] अक्षरारम्भ,[3] अक्षर-स्वीकरणम्,[4] अक्षरलेखन[5] आदि नामों से इसका उल्लेख किया गया है। अलतेकर के अनुसार श्रुति भाष्य और व्याकरण आदि शास्त्रों का विकास तथा लेखन कला के आविष्कार अथवा ज्ञान के साथ शिक्षा का प्रारम्भ उपनयन

---

1. अलतेकर : प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति, पृ0 200.
2. वीरमित्रोदय सं0 भाग 1, पृ0 321. स्मृतिचन्द्रिका. संस्कार, काण्ड, पृ0 67.
3. संस्काररत्नमाला, पृ0 1.
4. वी0मि0सं0, भाग 1, पृ0 321.
5. राजबली पाण्डेय: हिन्दू संस्कारास, पृ0 137.

से नहीं होता था अपितु इसके स्थान पर विद्यारम्भ नामक नये संस्कार का प्रचलन हुआ ।[1] वृहस्पति के अनुसार उपनयन से पूर्व अक्षरारम्भ अवश्य करा देना चाहिए।[2] पराशर माधवीय तथा चतुर्विंशतिम संग्रह में इस संस्कार का प्रयोजन अक्षराभ्यास बताया गया है।[3] अपरार्क ने विद्यारम्भ संस्कार का प्रयोजन वर्णमाला और गणित की शिक्षा बताया है।[4]

विवेच्ययुग में जब बालक का मस्तिष्क शिक्षा ग्रहण करने के लिए उपयुक्त हो जाता था तब एक पवित्र वातावरण में संस्कार की आयोजन विधि की औपचारिकताओं के साथ कल्याणकारी भविष्य का लक्ष्य लेकर अक्षर-ज्ञान कराया जाता था ।[5] अपरार्क,स्मृति-चन्द्रिका और पराशरमाधवीय में विद्यारम्भ संस्कार के संदर्भ में मारकण्डेयपुराण को उद्धृत किया गया है,जिसके अनुसार विद्यारम्भ संस्कार पाँचवें वर्ष सम्पन्न करने के लिए निर्देश दिया गया है।[6] विश्वामित्र के अनुसार विद्यारम्भ संस्कार बालक की आयु के पाँचवें वर्ष में किया जाता था।[7] पण्डित भीमसेन शर्मा द्वारा भी इस संस्कार विधि में उद्धृत

---

1. अल्तेकर : पूर्वोद्धरित,पृ0 202.
2. वी0मि0सं0, भाग -1,पृ0 321
3. पराशर माधवीय,जिल्द 1,पृ0 445,चतुर्विंशतिमतसंग्रह,पृ0 12, इसी स्थल पर नृसिंह पुराण भी उद्धृत - "अक्षर स्वीकृति:प्रोक्ता प्राप्ते पंचमहायने इति"।
4. अपरार्क 1.13, पृ0 31,"मातृकान्यासं गणितं च कुमारं शिक्षा पयेत्"।
5. ज0ए0सो0बं0,पृ0 249.
6. अपरार्क, 1.13,पृ0 30-31,पराशर माधवीय,जिल्द 1, पृ0 445, स्मृति चन्द्रिका,आह्निक काण्ड, पृ0 44.
7. वी0मि0सं0,भाग 1, पृ0 321.

है कि विद्यारम्भ संस्कार पाँचवें तथा सातवें वर्ष किया जा सकता था।[1]

राजपूतकाल के पहले विद्यारम्भ संस्कार का स्वतंत्र उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। विवेच्ययुग के ग्रन्थों में ही सर्वप्रथम इस संस्कार का नामोल्लेख हुआ है। अलतेकर का मत है कि यह संस्कार बहुत पहले से समाज में चला आ रहा होगा। सम्भवत: यह बहुत समय तक चौल संस्कार §चूड़ाकरण§ में ही सम्मिलित था।[2] नलचम्पू में भी चूड़ाकरण संस्कार के पश्चात् नल द्वारा शिक्षा ग्रहण किये जाने का उल्लेख है।[3] उत्तररामचरित में लव-कुश को चूड़ाकरण संस्कार के उपरान्त शिक्षा प्राप्त करने का उल्लेख है।[4] रघुवंश में भी चौल संस्कार के उपरान्त विद्यारम्भ करने का उल्लेख है।[5] अर्थशास्त्र में चौल संस्कार के बाद राजकुमार को लिपि और अंकगणित की शिक्षा देने का उल्लेख है।[6] इस प्रकार स्पष्ट है कि विवेच्ययुग के शैक्षणिक संस्कारों के क्रम में विद्यारम्भ संस्कार उपनयन संस्कार के पूर्व अवश्य आता है किन्तु उद्भव की दृष्टि से विद्यारम्भ संस्कार उपनयन संस्कार की अपेक्षा परवर्ती है।

विद्यारम्भ संस्कार के आयोजन के लिए सूर्य उत्तरायण के समय किसी शुभ दिन को निश्चित कर लिया जाता था।[7] श्रीधर ने भी अक्षरारम्भ के लिए शुभ दिन और नक्षत्रों का उल्लेख किया है।[8] आरम्भ में विष्णु, लक्ष्मी और

---

1. राजबली पाण्डेय : हिन्दू संस्कार, पृ० 108.
2. अलतेकर : पूर्वोक्त, पृ० 202.
3. नल चम्पू, चतुर्थ उच्छ्वास, पृ० 198.
4. उत्तररामचरित, द्वितीय अंक, पृ० 154,
5. कालिदास : रघुवंश, 3.7
6. अलतेकर : पूर्वोक्त, पृ० 202, पादटिप्पणी में उद्धृत कौटिल्य अर्थशास्त्र : द इ०हि०क्वा० जिल्द 5, पृ० 483, 1929.
7. वी०मि०सं०, भाग 1, पृष्ठ 321.
8. नि०सिं०. पृ० 529.

सरस्वती की पूजा और अग्नि में घी से होम तथा गुरू को दक्षिणा देने के उपरान्त शिष्य पश्चिम की ओर मुख करके बैठता था और गुरू पूर्वाभिमुख हो उसे शिक्षा प्रदान करता था ।[1] राजबली पाण्डेय[2] का मत है कि आरम्भ में बालक को स्नान कराया जाता था और सुगंधित पदार्थ तथा उत्कृष्ट वेश-भूषा से अलंकृत करने के पश्चात् देवताओं की पूजा की जाती थी । पूर्वाभिमुख गुरू पश्चिमाभिमुख बालक का अक्षरारम्भ करता था । रजत फलक पर केसर तथा अन्य द्रव्य बिखेर दिये जाते थे और इस अवसर पर विशेष रूप से बनी लेखनी से चावल पर अक्षर लिखे जाते थे ।[3] गुरू बालक को लिखे हुए अक्षरों को तीन बार पढ़ाता था । पढ़ने के बाद बालक द्वारा गुरू को वस्त्र, आभूषणादि भेंट करता था और गुरू बालक को आशीर्वाद देता था ।[4] विद्यारम्भ संस्कार की विधि का उल्लेख करते हुए अलतेकर ने लिखा है कि देवताओं की वन्दना के बाद बालक अपने गुरू की वन्दना करता था तदनन्तर उसे उसके संरक्षण में दिया जाता था । गुरू चावल पर सोने या चाँदी के कलम से जो इसी अवसर के लिए बनवायी जाती थी, वर्णमाला के सभी अक्षर लिखवाता था । गुरू तथा आमंत्रित ब्राह्मणों को यथोचित उपहार वितरण के अनन्तर यह संस्कार समाप्त हो जाता था ।[5]

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि विवेच्य युग में विद्यारम्भ संस्कार प्रारम्भिक शिक्षा के शुभारम्भ के रूप में पूर्णरूपेण स्थापित हो चुका था । प्रारम्भिक शिक्षा और विद्यारम्भ संस्कार एक दूसरे के पर्याय बन चुके थे ।

---

1. अपरार्क, 1. 13, पृ0 30-31, पराशरमाधवीय, जिल्द 1, पृ0445, स्मृति-चं0आ0का0, पृ0 44, चतुर्विंशतिमतसंग्रह, पृ0 12.
2. राजबली पाण्डेय : हिन्दू संस्कारास, पृ0 109.
3. वही, पृ0 109.
4. वही. पृ0 109-110.
5. अलतेकर, पूर्वोक्त, पृ0 200.

हमारे अध्ययनकाल के पूर्व युगीन समाज में जो स्थान उपनयन संस्कार का था, वही आलोच्यकाल में अक्षरारम्भ का था । उपनयन प्रारम्भिक अवस्था में प्रारम्भिक शिक्षा में प्रवेश का सूचक था, अतः छोटी आयु में सम्पन्न होता था तथा इसकेलिए लघुतम सम्भव अवस्था पाँच वर्ष निश्चित की गयी थी । परन्तु कालान्तर में विद्यारम्भ संस्कार के विधान के बाद उपनयन की आवश्यकता माध्यमिक शिक्षा प्रारम्भ करने के पूर्व प्रवेशार्थ साधन के रूप में प्रणीत होने लगी ।

2. उपनयन संस्कार :

उपनयन शब्द का मौलिक अर्थ है आचार्य द्वारा ग्रहण करना । प्रोफेसर स्टेन्जर ने उपनयन का अर्थ ब्रह्मचारी को गुरू के पास ले जाना बताया है।[1] आचार्य के समक्ष बटु |ब्रह्मचारी| को ले जाना उपनयन संस्कार कहा जाता है।[2] उपनयन का अर्थ "स्वध्याय" अथवा "अध्ययन" के लिए आचार्य के समीप जाना है।[3] उपनयन द्वारा उपनीत होने वाले ब्रह्मचारी का दूसरा जन्म होने की बात कई स्थानों पर भी कही गयी है।[4] "उपनयन को द्वितीय जन्म कहा गया है इसलिए ये तीनों वर्ण द्विज कहे गये । उपनयन के पश्चात् सावित्री माता और आचार्य पिता कहे गये ।"[5] यहूदियों और मुसलमानों में शिश्न छेदन या खतरा द्वारा उपनयन के समकक्ष संस्कार सम्पन्न होता है।[6] याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है कि गुरू को वेदों की शिक्षा उपनयन संस्कार के बाद ही कराना चाहिए।[7] यदि कोई व्यक्ति निर्धारित अन्तिम समय के पश्चात्

1. विश्वनाथ शुक्ल : हिन्दू समाज व्यवस्था. पृ0 373.

2. बी0मि0सं0. पृ0 334.

3. मेधातिथि, 2.36, या0 पर विश्वरूपाचार्य 1.14 "वेदाध्ययनायाचार्य समीपं नयनमुपनयनत देवोपनायनमित्युक्तं छन्दोमुरोधात्। तदथ वा कम ।"

4. अथर्व0 11/5/3, मनु0 2/170, महाभारत उद्योगपर्व 44/6.

5. स्मृ0चं0आ0का0, पृ0 46 पर उद्धृत आपस्त0और या0

6. जेनेसिस, 17/12.

7. या0स्मृ0, 1-14-71.

अनुपनीत रह जाये तो वह 'व्रात्य' सावित्री से पतित तथा आर्य समाज से विगर्हित हो जाता था। यद्यपि तद्युगीन समाज उन्हें यज्ञ कराकर शुद्ध किये जाने का विधान था।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि विवेच्ययुग में उपनयन संस्कार का बौद्धिक उत्कर्ष से गहरा तादात्म्य था जिसे व्यक्ति के संयमित और अनुशासित जीवन के प्रारम्भ का द्योतक समझा जाता था जिसका प्रेरणा स्रोत आचार्य होता था।

राजबली पाण्डेय का मत है कि प्रारम्भ में उपनयन ऐसे व्यक्तियों के लिए निषिद्ध था जो शिक्षा प्राप्त करने में जन्मजात विकारों के कारण अक्षम थे।[2] लक्ष्मीधर के अनुसार पागल और गूंगे व्यक्ति का उपनयन संस्कार नहीं करना चाहिए।[3] आपस्तम्ब के अनुसार जो शूद्र न हो, बुरे कार्य और मद्यपान नहीं करते हों उनका ही उपनयन संस्कार करना चाहिए।[4] निर्णयसिंधु में पद्म पुराण के इस कथन को उद्धृत किया गया है कि शिक्षा और यज्ञोपवीत को शूद्र न धारण करें।[5] लेकिन मध्य काल आते आते नपुंसक, बधिर, पंगु, जड़, तोतले, विकलांग, उन्मत्त आदि के लिए भी उपनयन संस्कार के विधान का उल्लेख है।[6] ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में उपनयन संस्कार का प्रभाव धीरे धीरे घट रहा था।

विवेच्य युग में बालक के उपनयन संस्कार किये जाने की अवस्था का स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होता है। पैठीनसी के अनुसार उपनयन संस्कार ब्राह्मण के लिए पांचवां या आठवां, क्षत्रिय के लिए आठवां या बारहवां तथा वैश्य के लिए

---

1. या०स्मृ० 1-14-71.
2. राजबली पाण्डेय : हिन्दू संस्कार, पृ० 123.
3. कृत्य०ब्रह्म०काण्ड, पृ० 105.
4. वहीं।
5. नि०सिं०, पृ० 528-529.
6. वहीं, पृ० 550-551, वी०मि०सं०, भाग 1, पृ० 399.

बारहवां या सोलहवां वर्ष बताया गया है।[1] लक्ष्मीधर ने आठवां, ग्यारहवां और बारहवां वर्ष उपनयन के लिए उपर्युक्त माना है।[2] ब्राह्मण का आठवें, क्षत्रिय का ग्यारहवें तथा वैश्य का बारहवें वर्ष मेंउपनयन काउल्लेख है।[3]लौगाक्षि ने सातवें, नौवें और ग्यारहवें वर्ष उपनयन संस्कार सम्पन्न करने का निर्देश दिया है।[4] ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सावित्री क्रमशः आठ, ग्यारह और बारह अक्षरों के आधार पर उपनयन की आयु सम्बद्ध अक्षरों पर निश्चित कर दी गयी।[5] मनु और अंगिरा के अनुसार ब्राह्मण बालक जो ब्रह्मवर्चस्व की प्राप्ति करना था उसका उपनयन संस्कार पांचवें वर्ष में बलशाली बनने के इच्छुक क्षत्रिय बालक का छठें वर्ष में और वैश्य बालक का जो अपने व्यापार में सफलताप्राप्त करने का इच्छुक था, आठवें वर्ष में उपनयन करने का विधान बताया गया है।[6] आपस्तम्ब में ब्रह्मवर्चस्व की कामना हेतु बालक का सातवें वर्ष, दीर्घायु की कामना हो तो आठवें वर्ष, तेजस्वी बनने की कामना में नवें वर्ष और अन्नादि की कामना हो तो बारहवें वर्ष में उपनयन संस्कार करनाचाहिए।[7] चतुर्विंशतिमत संग्रह में उक्त कामनाओं के लिए छठें, सातवें, आठवें और नवें वर्ष में द्विजातियों का उपनयन संस्कार करने का उल्लेख है।[8] अल्बेरूनी के अनुसार ब्राह्मणों और क्षत्रियों काउपनयन संस्कार सातवें और बारहवें वर्ष में होता था।[9]

---

1. कृत्य०ब्रह्म०, पृ०102 एवं स्मृ०च०आ०का०. पृ०45 पर उद्धृत पैठीनसी।
2. वहीं, पृष्ठ 104 एवं भूमिका, पृ0 57.
3. मनुस्मृति, 2.36, या०स्मृति पर विश्वरूपाचार्य आ०अ०श्लोक 4. स्मृतिनाम समुच्चय में संग्रहीत बौधायन स्मृति, पृ0 426. द्वितीय अध्याय श्लोक 7-9,
4. स्मृ०च०. पृ0 45 तथा कृत्य०ब्रह्म०, पृ0 101,
5. मनु स्मृति, 2.36 पर मेधातिथि का भाष्य -

   "ब्राह्मणादि वर्णसम्बन्धी नामछन्दसा पादाक्षर संख्यैरूप नयनस्य विधिः
6. मनु० 2.37. स्मृ०च०, पृ0 45 तथा कृत्य०ब्र०का०, पृ0 102.
7. चतुर्विंशतिमत संग्रह, पृ0 13-14, निर्णयसिन्धु, पृ0 542 पर उद्धृत आपस्तम्ब
8. वहीं, पृ0 13.
9. सचाऊ : जिल्द 2, पृ0 130 एवं 136.

धर्मशास्त्रों में उपनयन संस्कार की अन्तिम सीमा ब्राह्मण के लिए सोलह वर्ष, क्षत्रिय के लिए बाइस वर्ष एवं वैश्य के लिए चौबीस वर्ष थी।[1] धर्मशास्त्रों के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि बालक की आकांक्षाओं का उपनयन संस्कार की अवस्था से घनिष्ठ सम्बन्ध था, जिसे उनके अभिभावक एवं आचार्य बालक की प्रतिभा के अनुरूप निश्चित करते होंगे। इस प्रकार उपनयन संस्कार की अवस्था सामान्यतया व्यक्तिगत एवं सामाजिक आवश्यता के अनुरूप रही होगी।

उपनयन संस्कार के आयोजन विधि के अन्तर्गत ब्राह्मण बालक का उपनयन वसन्त ऋतु में, क्षत्रिय बालक का ग्रीष्म ऋतु में एवं वैश्य बालक का उपनयन संस्कार शरद ऋतु में करना चाहिए।[2] कृत्यकल्पतरू में यह उल्लेख है कि सभी वर्ण अपनी कुल-परम्परा के अनुसार अन्य काल में भी उपनयन कर सकते हैं।[3] इस संस्कार के समय के सन्दर्भ में सूर्य के उत्तरायण होने पर बालक के उपनयन का विधान बताया गया है।[4] चतुर्विंशतिमत संग्रह में शुक्ल पक्ष के शुभ नक्षत्र में ही उपनयन संस्कार को करने का विधान बताया गया है।[5] इस संस्कार के लिए चैत्र, वैशाख और माघ में तृतीया तिथि अधिक पूजनीय और पवित्र मानी गयी है। फाल्गुन मास की सप्तमी एवं कृष्णपक्ष की द्वितीया तिथि उपनयन के लिए ज्यादा प्रशस्त मानी गयी है।[6] उपनयन संस्कार के सन्दर्भ में द्वितीया, तृतीया, पंचमी एवं षष्ठी तिथि दोनों पक्षों में शुभ मानी गयी है तथा कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी के दिन ये सभी कार्य हो सकते हैं।[7] परन्तु ज्येष्ठ मास में ज्येष्ठ पुत्र और जिस

---

1. चतुर्विंशतिमतसंग्रह, पृ0 14, कृत्य0ब्रह्म0, पृ0 103, मनु0 2.38
2. स्मृतिनां समुच्चय में संग्रहीत बौधायन स्मृति, 10, पृ0 426.
3. चतुर्विंशतिमतसंग्रह, पृ0 14.
4. कृत्य0ब्रह्म0, पृ0 100.
5. चतुर्विंशतिमतसंग्रह, पृ0 14.
6. वही, पृ0 15.
7. चतुर्विंशतिमतसंग्रह, पृ0 14.

महीने में बालक का जन्म हुआ हो उस महीने में भी बालक के उपनयन संस्कार को निषेध बताया गया है।[1] अपरार्क का कथन है कि जब चन्द्रमा लुप्त हो और शुक्र आठवें स्थान पर हो तो उपनयन संस्कार नहीं करना चाहिए।[2]

आयोजन विधि में बालक[3] के बाल बनवाने के उपरान्त स्नान कराकर कौपीन धारण करने के लिए दिया जाता था।आचार्य उसके कटि के चारों ओर मेखला बांधता था तथा उसे उपवीत धारण करने के लिए दिया जाता था।[4] कुल देवता का पूजन तथा ब्राह्मण भोजन कराने का विधान था।[5] ये सभी क्रियाएँ धर्मशास्त्र परक मंत्रों से सम्पन्न की जाती थी।शिष्य को सूर्यदर्शन भी कराया जाता था।आचार्य शिष्य को सावित्री मंत्र का उपदेश देता था।[6] क्षत्रिय[7] एवं वैश्य[8] बालकों के लिए तद्‌युगीन लेखकों ने भिन्न भिन्न मंत्रों का उल्लेख किया है।

---

1. चतुर्विंशतिमतसंग्रह, पृ0 14.
2. वहीं, पृ0 15.
3. स्मृतिनामसमुच्चय में संग्रहीत लाध्वाश्वलायन स्मृति, पृ0 158. श्लोक 2.
4. वीरमित्रोदय, भाग 1. पृ0 415.
5. स्मृतिनामसमुच्चय में संग्रहीत लाध्वाश्वलायन स्मृति, पृ0 158. श्लोक 2.
6. राजबली पाण्डेय, हिन्दू संस्काराज ,पृ0 138.
7. मनु पर मेधातिथि 2.38 आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
   हिरण्ययेन सविता रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन् ।।
8. मनु पर मेधातिथि 2.38. वीरमित्रोदय सं0, पृ0 430पर उद्धृत शातातप और लौगाक्षि के वचन एवं याज्ञ0 पर अपरार्क की टीका 1.15
   विश्वरूपाणि प्रतिमुंचते कविः प्रासावीन्द्भद्रं द्विपदेचतुष्पदे ।
   विनाकमख्यत्सविता वरेण्यो नु प्रयाणमुषसो विराजति ।।

ब्रह्मचारी गायत्री मंत्र का नित्य संध्याकाल में पाठ करते थे।[1] इस मंत्र के द्वारा सूर्य की आराधना की जाती है और विद्यार्थी यह प्रार्थना करते हैं कि सूर्य उन्हें प्रखर बुद्धि,स्वस्थ शरीर,धन,स्फूर्ति एवं अच्छी स्मरण शक्ति प्रदान करे जिससे उनका विद्यार्थी जीवन उदात्त एवं सफल हो सके तथा लोक शक्तियों पर भी वह विजय प्राप्त कर सके।अल्बेरूनी लिखता है कि उपनयन संस्कार के अवसर पर गुरू बालक को कर्त्तव्य मार्ग की शिक्षा देता था।उसकी कमर में करधनी बांधता था और यज्ञोपवीत का एक जोड़ा ब्रह्मचारी को पहनने के लिए देता था।तदनन्तर उसे दण्ड प्रदान किया जाता था।[2] दण्ड प्रहरी का प्रतीक था और रक्षा का प्रयोजन उससे सम्बद्ध था।दायें हाथ की अनामिका में अगूंठी ॥पवित्री॥ धारण करने का यह ध्येय था कि जो उस हाथ से दान प्राप्त करे उन सबके लिए वह मंगलमयहो।तद्-युगीन धर्मशास्त्रकारों ने ब्रह्मचारी को यज्ञोपवीत अपने से अलग न करने का निर्देश दिया है।[3] यद्यपि प्रयश्चित्त का विधान प्राप्त होता है।[4]अल्बेरूनी से भी इस मत की पुष्टि होती है।[5]

विवेच्य युग में उपनयन संस्कार का स्वरूप शनैःशनैःपरिवर्तित होता रहा। उपनिषद,बौद्ध एवं जैन धर्म के प्रचार से वैदिक धर्म को धक्का लगने के कारण तथा कुछ विभिन्न जातियों में ही अध्ययन के अन्य विषयों के विकास के कारण वैदिक शिक्षा का प्रचार समाज में घटने लगा,क्षत्रियों और वैश्यों में उपनयन संस्कार बन्द होने लगे क्यों कि इनके पेशे से वैदिक साहित्य का निकट का सम्बन्ध नहीं था।[6]अल्बेरूनी से ज्ञात होता है कि ग्यारहवीं शताब्दी से पूर्व

---

1. बृहत्पराशर, 4/77/78.
2. जयशंकर मिश्र :ग्यारहवीं सदी का भरत,पृ0 224-226.
3. आ0ध0सू0 1.5.15 पर हरदत्त का भाष्य।
4. अपरार्क, 1171, 1173. मिताक्षरा,या0स्मृ0 3.249.
5. जयशंकर मिश्र: ग्यारहवीं सदी का भारत,पृ0 227.
6. अलतेकर: पूर्वोद्धरित,पृ0 205.

ही क्षत्रियों एवं वैश्यों में वैदिक शिक्षा समाप्त हो चुकी थी।[1]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि विवेच्य युग में उपनयन संस्कार का शैक्षणिक प्रभाव सीमित होकर एक सामाजिक औपचारिकता बन गया था। उपनयन संस्कार समाज की सदस्यता प्राप्त कराने का एक साधन बन गया था और विवाह संस्कार के पूर्व[2] उपनयन करना आवश्यक हो गया था। यद्यपि तद्युगीन समाज में उपनयन वैदिक शिक्षा ग्रहण करने वालों विशेषकर ब्राह्मण वर्ग के लिए एक प्रमुख शैक्षणिक संस्कार था। यज्ञोपवीत[3] ब्राह्मणत्व का चिह्न हो गया था न कि द्विजत्व का। फिर भी आलोच्यकाल में क्षत्रियों एवं वैश्यों में यह संस्कार पूर्णतः बन्द नहीं हुआ था, यद्यपि उन जातियों में प्रभावहीन अवश्य हो गया था।

3. उपाकर्म संस्कार :

विवेच्य युग में उपाकर्म संस्कार शिक्षालयों के वार्षिक सत्रों के प्रारम्भ का संस्कार था। श्रावण मास की पूर्णिमा के दिन किये जाने के कारण इसे श्रावणी नाम से भी जाना जाता था। राजबली पाण्डेय के अनुसार वेदों की शिक्षा में ह्रास के कारण "चारवेदव्रत" अप्रचलित हो गये थे। वे अधिकांश गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में उल्लिखित नहीं है परन्तु प्राचीन परम्परा को आदर देने के लिए आवश्यकता थी कि वेदव्रतों का स्थान लेने के लिए किसी संस्कार का प्रतिपादन हो जो कि उच्च शिक्षा की प्रारम्भिकता का सूचक हो। इस प्रकार प्राचीन वेदव्रतों के अवशेष पर वेदारम्भ संस्कार का उद्भव हुआ। इस संस्कार के परवर्ती होने का यही कारण है।[4] तद्युगीन धर्मशास्त्रकारों ने भी वेदारम्भ संस्कार को उपनयन से पृथक कर स्वतंत्र संस्कार के रूप में मान्यता

---

1. सचाऊ : अल्बेरूनीज इण्डिया, भाग 1, पृ0 125.
2. गौ0 ध0सू0 पर हरदत्त का भाष्य 1.1.6
3. अलतेकर : पूर्वोद्धरित, पृ0 205.
4. राजबली पाण्डेय : पूर्वोद्धरित, पृ0 141.

प्रदान की है। शिक्षा से सम्बन्धित इस नवीन संस्कार का सर्वप्रथम उल्लेख व्यास स्मृति में मिलता है, जिसमें उपनयन तथा वेदारम्भ में अन्तर बताया गया है।[1] अलतेकर[2] का मत है कि शिक्षा परिसमाप्ति के बाद कुछ काल में बहुसंख्यक विद्यार्थी बहुत कुछ भूल जाते हैं और परिश्रम निष्फलप्राय हो जाता है। ऐसा न हो इसलिए श्रावणी सम्पूर्ण आर्यों के लिए आवश्यक कर दी गयी। यह व्यवस्था दी गयी कि श्रावणी के दिन गृहस्थ भी अन्तेवासियों के साथ श्रावणी संस्कार में सम्मिलित हों और पढ़े हुए पाठ की पुनरावृत्ति कर लेने की प्रतिज्ञा करें। अन्य विद्यार्थी पाठशालाओं में तथा गृहस्थ पाठ पुनरावृत्ति का कार्य कुछ समय देकर अपने घरों में रहकर ही कर सकते थे।

धर्मशास्त्रों में बालक का उपाकर्म संस्कार श्रावण मास के हस्त नक्षत्र में करने का विधान बताया गया है।[3] चतुर्विंशतिमतसंग्रह में श्रावण मास की पूर्णिमा के दिन उपाकर्म संस्कार करने के विधान का उल्लेख है।[4] इस सम्बन्ध में विज्ञानेश्वर का मत है कि उपाकर्म श्रावण मास की पूर्णमासी को श्रवण नक्षत्र में या श्रावण पंचमी हस्त नक्षत्र में अथवा अपने गृह्यसूत्रानुसार करना चाहिए।[5] धर्मशास्त्रों के अनुसार ब्रह्मचारियों के सत्रारम्भ के समय एकत्रित होने पर आचार्य इस संस्कार को करते थे।[6] कई स्थानों पर श्रावणी के दिन आचार्य इस संस्कार को करते समय अन्तेवासियों को भोज देते थे।[7] उपाकर्म के श्रावण मास में न होने

---

1. स्मृतिनामसमुच्चय, पृ0 358, वेदव्यास स्मृति, 1.14.15
2. अल्तेकर : पूर्वोद्धरित, पृ0 215.
3. स्मृतिनांसमुच्चय, पृ0 161, लाघ्वाश्वलायनस्मृति, पृ0 161, श्लोक 1. स्मृतिचन्द्रिका, पृ0 54.
4. चतुर्विंशतिमतसंग्रह, पृ0 37 पर उद्धृत आपस्तम्ब।
5. या0स्मृ0 पर विज्ञानेश्वर, पृ0 63, श्लोक 142.
6. अलतेकर : पूर्वोद्धरित, पृ0 214.
7. वही।

पर भादों में गुरू द्वारा शिष्य के साथ करने का भी विधान मिलता है।[1] इस संस्कार के प्रत्येक वर्ष में करने का विधान बताया गया है।[2] साथ ही यह भी उल्लेख है कि अकाल में उपाकर्म नहीं करना चाहिए।[3] ग्रहदोष के कारण यदि पहला उपाकर्म नहीं हुआ तो आषाढ़ में या शरद में करने का विधान बताया गया है।[4] श्रावण से लेकर चार महीने वेदाध्ययन करना चाहिए। विज्ञानेश्वर ने मनु को उद्धृत करते हुए कहा है कि श्रावण या भादों में यथा-विधि उपाकर्म करके वेदाध्ययन करना चाहिए।[5]

गौतम[6] का मत है कि उपाकर्म के दिन रात्रिपर्यन्त अनध्याय करना चाहिए, लेकिन चतुर्विंशतिमतसंग्रह[7] में तीन रात्रि के अनध्याय का विधान बताया गया है। गौतम को उद्धृत कर लक्ष्मीधर यह उल्लेख करते हैं कि गुरू के पास जाकर भी उच्चारण करके वेदोच्चारण करना चाहिए।[8] कुल्लूकके अनुसार वेदाध्ययन करने वाला ब्रह्मचारी शास्त्रोक्त विधि से आचमन किया हुआ, ब्रह्मजलि बांधकर हल्के वस्त्र को धारण करता हुआ जितेन्द्रिय होना चाहिए।[9] उपाकर्म में श्रावणी के दिन यज्ञोपवीत परिवर्तन का विधान था।[10] यम के अनुसार प्रणवनाद (ॐ शब्द) के साथ वेद आरम्भ करे तथा प्रणवनाद उच्चारण

---

1. स्मृतिनाम् समुच्चय, पृ0 161, लघ्वाश्वलायन स्मृति, पृ0 161, श्लोक 1.
2. वहीं, पृ0 281, श्लोक 64, अध्याय 8.
3. वहीं, पृ0 161, श्लोक 3.
4. वहीं, श्लोक 2.
5. या0 पर विज्ञानेश्वर, पृ0 63, श्लोक 142.
6. चतुर्विंशतिमतसंग्रह, पृ0 37 पर उद्धृत गौतम
7. वहीं, पृ0 36.
8. कृत्य0ब्रह्म0, पृ0 244 पर उद्धृत गौतम
9. मनु पर कुल्लूक, 2.70
10. अलतेकर : पूर्वोद्धरित, पृ0 216.

के साथ ही भूमि का स्पर्श कर विराम करना चाहिए।[1] अलतेकर के अनुसार विभिन्न सम्प्रदायों में इसका रूप तो पृथक-पृथक था किन्तु इन सबमें एक मूल बात समान रूप से पायी जाती थी । सत्रारम्भ में ब्रह्मचारी वैदिक यज्ञों के देवताओं को अर्घ्य प्रदान, देवताओं की आराधना तथा ऋषि मुनियों के प्रति आभार प्रदर्शन करते जिन्होंने राष्ट्रीय साहित्य को समृद्ध बनाया है।[2]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि विवेच्य युग में उपनयनसंस्कार का ह्रास ही उपाकर्म संस्कार के उद्भव का आधार था ।उपाकर्म वेदाध्ययन के शुभारम्भ का प्रतीक बन गया था ।बिना वेदाध्ययन किये जो कन्या से विवाह कर लेता था वह ब्रह्मचारी समस्त कार्यों से बहिष्कृत समझा जाता था।[3] इससे तद्युगीन समाज में वेदों की शिक्षा का महत्व प्रमाणित होता है।

4. उत्सर्जन संस्कार :

उत्सर्जन संस्कार भी उपाकर्म संस्कार की तरह शिक्षा सत्र से सम्बन्धित था।इसीलिए अधिकांश तद्युगीन ग्रन्थों में दोनों का उल्लेख[4] साथ-साथ हुआ है।जिस प्रकार शिक्षासत्र का प्रारम्भ उपाकर्म से होता था उसी प्रकार शिक्षा सत्र का अन्त भी उत्सर्जन संस्कार से होता था ।सत्रान्त फरवरी या मार्च में होता था।[5] इसकी क्रियाएँ भी लगभग सत्रारम्भ की ही थीं।[6]

---

1. कृत्य0,ब्रह्म0. पृ0 245.
2. अलतेकर : पूर्वोद्धरित,पृ0 216.
3. स्मृतिनाम् समुच्चय,पृ0 162. श्लोक 4, लघ्वाश्वलायनस्मृति,पृ0 162.
4. स्मृ0चं0,पृ0 94-95, स्मृतिनाम् समुच्चय,पृ0 162. श्लोक 3-4, चतुर्विंशतिमतसंग्रह,पृ0 36. याज्ञ0 पर विज्ञानेश्वर,पृ0 64,आ0आ0. श्लोक 143.
5. अलतेकर : पूर्वोद्धरित,पृ0 217.
6. वहीं ।

वेद समाप्ति पर उपाकर्म की भांति ही क्रियाएं होती थीं।[1]

विज्ञानेश्वर के अनुसार पौषमास की पूर्णिमा को अथवा माघ शुक्ल की पड्वा को वेदों का उत्सर्ग करना चाहिए।[2] यदि भादों महीने में उपाकर्म हुआ हो तो माघ में शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को उत्सर्जन का निदेश है।[3] देवण्ण भट्ट ने लिखा है कि पौष मास की पूर्णिमा के दिन अथवा माघ मास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा के दिन उत्सर्जन का विधान था।[4] आरम्भ से छः महीने के बाद वेदाध्ययन का उत्सर्ग करने के विधान का उल्लेख भी प्राप्त होता है।[5] शास्त्रानुसार वेदों का उत्सर्ग बाहर किया जाना चाहिए।[6] स्मृतिचन्द्रिका से ज्ञात होता है कि पौष मास की रोहिणी नक्षत्र से अथवा अष्टमी के दिन ग्राम या नगर के बाहर किसी जलीय स्थान पर उत्सर्जन संस्कार किया जाना चाहिए।[7] यह भी उल्लिखित है कि निश्चित समय पर एकत्रित होकर उत्सर्जन संस्कार सम्पादित करना चाहिए।[8] ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक ज्ञान के महत्व को बनाये रखने के लिए ही बस्ती के बाहर किसी स्वच्छ एवं खुले सार्वजनिक स्थान पर इस संस्कार का आयोजन होता होगा।

स्मृतियों में गायत्री मंत्र के साथ सभी देवताओं का पूजन करने, ब्रह्म यज्ञ के सभी देवताओं की यथाक्रम से आहुति करते हुए रुद्र की आहुति कर यज्ञ समाप्त करने का विधान बताया गया है।[9] विज्ञानेश्वर का मत है कि पौष मास की

---

1. स्मृतिनाम समुच्चय, पृष्ठ 162, लघ्वाश्वलायनस्मृति, अथोत्सजन प्रकरण, श्लोक4.
2. याज्ञ0 पर विज्ञानेश्वर, पृ0 64 आ0अ0. श्लोक 143.
3. वही ।
4. स्मृ0चं0, पृ0 94-95.
5. स्मृतिनाम समुच्चय, पृ0162, लघ्वाश्वलायनस्मृति, अथोत्सजनप्रकरण, श्लोक 1.
6. याज्ञ0 पर विज्ञानेश्वर. पृ0 64, आ0अ0. श्लोक 143.
7. स्मृ0चं0, पृ0 94-95.
8. वही।
9. स्मृतिनाम समुच्चय, पृष्ठ 162. लघ्वाश्वलायनस्मृति, अथोंत्सर्जनप्रकरण, श्लोक 3.

रोहिणी में या अष्टमी को वेद का उत्सर्जन करना चाहिए अथवा अपने गृह्य-सूत्रानुसार करना चाहिए।[1]यथाविधि कर्म को करते हुए उपाकर्म तथा उत्सर्जन को सम्पादित करने का उल्लेख भी प्राप्त होता है।[2] उत्सर्जन संस्कार में सात घृताहुतियां देने के बाद खीर का हवन करने का निर्देश था।[3]चतुर्विंशतिमतसंग्रह में उद्धृत मनु का कथन है कि उत्सर्जन संस्कार के बाद तीन रात्रि का अनध्याय होना चाहिए।[4]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि उत्सर्जन संस्कार विवेच्य युग में शिक्षा सत्र के समापन के अवसर पर एक सुरम्य वातावरण में धर्मशास्त्रीय ढंग से आयोजित किया जाता था।संभवतः इसके पीछे वैदिक शिक्षा की निरन्तरता की भावना निहित रही होगी।कात्यायन के अनुसार वेदों को स्मरण रखने के लिए द्विज उपाकर्म और उत्सर्जन किया करते थे।[5]

5. केशान्त संस्कार :

केशान्त संस्कार को गोदान संस्कार भी कहा जाता था क्योंकि इस संस्कार के सु-अवसर पर ब्राह्मण गुरू को गोदान दिया जाता था।[6] केशान्त संस्कार चार वेदव्रतों में से एक था।आश्वलायन श्रौतसूत्र में चार वेदव्रत इस प्रकार बताये गये हैं-महानाम्नीव्रत,महाव्रत,उपनिषद व्रत,गोदान।[7] गृह्यसूत्रों

---

1. या0स्मृ0 पर विज्ञानेश्वर.पृ0 64 आ0अ0.श्लोक 143.
2. स्मृतिनामसमुच्चय,पृ0 162.लघ्वाश्वलायनस्मृति,अथोत्सर्जनप्रकरण,श्लोक 3.
3. वहीं।
4. चतुर्विंशतिमतसंग्रह,पृ0 36 पर उद्धृत मनु।
5. स्मृ0चं0.पृ0 94-95.
6. राजबली पाण्डेय : पूर्वोद्धृत,पृ0 143.
7. आश्वलायनश्रौतसूत्र, 8.14.जे0आर0धारपुरे: ए जनरल इन्ट्रोडक्शन विद स्पेशल रिफरेन्स,पृ0 100 ॥पादटिप्पणी॥

में इसे "गोदान" नाम दिया गया है।[1] जब कि मनु और याज्ञवल्क्य ने इसे केशान्त संस्कार कहा है।[2] केशान्त संस्कार मुलरूप में चौल संस्कार से भी भिन्न था। चौल संस्कार ।चूड़ाकरण। में सिर के बालों का क्षौर होता था परन्तु केशान्त में सिर के साथ दाढ़ी-मछों के बाल तथा नख जल में फेंक दिये जाते थे।[3]

स्मृति चन्द्रिका के अनुसार ब्रह्मचर्यविधि में ब्रह्मचारी के सिर, दाढ़ी आदि का पहली बार क्षौर कर्म केशान्त संस्कार का प्रयोजन था।[4] मनु के अनुसार तीनों वर्णों का यह संस्कार क्रमशः सोलहवें तथा याज्ञवल्क्य के अनुसार सोलहवें वर्ष किया जाना चाहिए।[5] वेदव्यास ने ब्रह्मचारी को सोलह वर्ष तक गुरू के यहाँ रहकर केशान्त संस्कार आदि व्रतों के बाद सभी वेदों या एक वेद को समाप्त कर गुरू की आज्ञा से स्नान करने का निर्देश दिया है।[6] लध्वाश्वलायन स्मृति में गोदान, केशान्त के आयोजन की अवस्था सोलह वर्ष बतायी गयी है।[7] उत्तररामचरित में सीता के संवाद से ज्ञात होता है कि राम, लक्ष्मण आदि चारों भाइयों का केशान्त संस्कार विवाह के समय किया गया था।[8]

----

1. पी०वी०काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ० 261.
2. मनुस्मृति, 2.65. याज्ञवल्क्य, 1.36
3. राजबली पाण्डेय : पूर्वोल्लिखित, पृ० 145.
4. स्मृ०चं०. आ०का०, पृ० 107
5. मनु० 2.65. अपरार्क, पृ० 67 में उद्धृत मनु और पराशर माधवीय, जिल्द 1, पृ० 457, स्मृ०चं०आ०का०, पृ० 106-107, कृत्य०ब्रह्म०, पृ० 263-264 में उद्धृत मनु व याज्ञवल्क्य ।
6. वेदव्यास स्मृति, 1.42-43, पृ० 359.
7. लध्वाश्वलायन स्मृति, पृ० 162, 14.1
8. उत्तररामचरितम्, प्रथम अंक, पृ० 59.

उपर्युक्त उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि हमारे अध्ययनकाल में केशान्त संस्कार वेदाध्ययन की पूर्णता, शारीरिक स्वच्छता एवं गृहस्थ जीवन की योग्यता का प्रतीक बनता जा रहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि केशान्त संस्कार समावर्तन संस्कार की पृष्ठभूमि का निर्धारण रहा होगा।

6. समावर्तन संस्कार :

समावर्तन या शाब्दिक अर्थ है "लौटना" जो गुरूकुल में अध्ययन की समाप्ति के अनन्तर ब्रह्मचारी के घर लौटने का सूचक है।[1] इस संस्कार को "समावर्तन" या "स्नान संस्कार" भी कहा जाता था। इस अवसर पर ब्रह्मचारी स्नान करते थे, स्नान शब्द उसी का द्योतक है। शिक्षा समाप्ति के बाद जब ब्रह्मचारी अपने गृह की ओर प्रस्थान करता था तब यह संस्कार सम्पादित किया जाता था।[2] ब्रह्मचर्यावधि की समाप्ति और ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् गुरू की आज्ञा से समावर्तन या स्नान आयोजित किया जाता था।[3] शिक्षा पूरी होने के बाद ही समावर्तन अथवा स्नान संस्कार किया जाता था।[4] यथेष्ट विद्याध्ययन कर ब्रह्मचर्य की समाप्ति पर स्नान करना समावर्तन संस्कार कहलाता है।[5]

ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते थे। जो विद्यार्थी अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए आजन्म गुरू के आश्रम में रहकर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते थे, उन्हें "नैष्ठिक ब्रह्मचारी" कहा जाता था।[6] परन्तु अध्ययन पूर्ण करके जो गृह-

---

1. अलतेकर : पूर्वोद्धरित, पृ0 217.
2. वही।
3. कृत्य0ब्रह्म0, पृ0 276.
4. वी0मि0, पृ0 534.
5. कृत्य0ब्रह्म0, पृ0 275.
6. याज्ञ0 स्मृति, 1.49

स्थाश्रम में प्रवेश पाने के इच्छुक होते थे उन्हें "उपकुर्वाण" कहा जाता था। समावर्तन संस्कार उपकुर्वाण ब्रह्मचारी का ही होता था। जो आजीवन ब्रह्मचारी थे उनके लिए समावर्तन संस्कार आवश्यक नहीं था।[1] ह्वेनसांग के अनुसार ये ब्रह्मचारी आजीवन सांसारिक कार्यों से विरक्त रहते थे तथा एकान्तप्रिय और अध्ययनशील प्रकृति के होते थे।[2]

समावर्तन संस्कार को सम्पन्न करने के लिए कोई निश्चित आयु निर्धारित नहीं थी। ब्रह्मचर्याश्रम शिक्षा ग्रहण करने की अवधि थी जिसके अन्तर्गत विद्यार्थी को वेद-वेदांगों के अतिरिक्त विविध प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। ब्रह्मचर्य की सबसे लम्बी अवधि अड़तालीस वर्ष की मानी गयी थी जिसमें प्रत्येक वेद के लिए बारह वर्ष का समय निर्धारित था।[3] मनु का मत है कि विद्यार्थी तीन, दो अथवा एक ही वेद का अध्ययन कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें।[4] इस सन्दर्भ में चतुर्विंशतिसंग्रह में उल्लिखित है कि कम से कम एक वेद अथवा चारों वेदों का अध्ययन करने के पश्चात् ब्राह्मण ब्रह्मचारी का समावर्तन संस्कार करना चाहिए।[5] परन्तु लघु व्यास के अनुसार केवल ऋग्वेद के एक चौथाई भाग का अध्ययन करके ही तथा विधि से उसका अर्थ जानकर और व्रतों का विधिपूर्वक पालन करने के बाद भी समावर्तन संस्कार सम्पादित हो सकता है।[6] इस प्रकार स्पष्ट है कि विवेच्य युग में वेदाध्ययन का अध्ययन क्षेत्र संकुचित हो रहा था।

---

1. पी०वी०काणे : पूर्वोद्धरित, भाग 1, पृ० 262, अल्तेकर : पूर्वोद्धरित, पृ० 217.
2. वाटर्स, ह्वेनसांग, भाग 1, पृ० 160.
3. कृत्य० ब्रह्म०, पृ० 263, चतुर्विंशतिमतसंग्रह, पृ० 46-47,
4. मनुस्मृति, 3.2
5. स्मृ०चं० आ०का०, पृ० 113.
6. चतुर्विंशतिमतसंग्रह, पृ० 65.

प्राचीन वैदिक परम्परा के अनुसार विधिवत् वेदाध्ययन करके गुरुकुल से लौटकर अपने घर आने वाले ब्रह्मचारी को स्नातक कहते थे।[1] स्नान संस्कार के बाद ब्रह्मचर्याविधि की पूर्णता के पश्चात् विद्यार्थी "स्नातक" कहलाता था।[2] हारीत स्मृति में स्नातकों की तीन श्रेणियाँ बतायी गयी हैं[3]-विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्याव्रतस्नातक। जिसने वेदाध्ययन समाप्त कर लिया हो परन्तु व्रत पूर्ण न कर वापस लौट आया हो उसे "विद्या स्नातक", जिसने व्रत पूर्ण कर लिया हो परन्तु वेदाध्ययन पूर्ण न कर गृह वापस लौटा हो वह "व्रतस्नातक" स्नातक कहलाता है। जो वेदाध्ययन और व्रत दोनों पूर्ण कर घर प्रत्यावर्तित होता है, वह [illegible] कहलाता है।

समावर्तन संस्कार के अनन्तर आचार्य शिष्य से दक्षिणा ग्रहण करते थे।[4] याज्ञवल्क्य के अनुसार गुरु की आज्ञा से स्नान कर गुरु को श्रेष्ठ दान देना चाहिए।[5] आपस्तम्ब इस मत का समर्थन करते हुए आगे कहते हैं कि वेद विद्या के ज्ञानोपरान्त यदि विषम परिस्थिति हो तो भी शूद्र से लेकर गुरु को दक्षिणा देनी चाहिए और देने के पश्चात् आत्म-प्रशंसा नहीं करनी चाहिए।[6] लघुहारीत का कथन है कि यदि एक अक्षर भी शिष्य को गुरु से

---

1. ब्रह्मचारी---------। स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहुरोचते।
   । अथर्व0, 11/15/26.
2. पाराशरमाधवीय, प्रथम खण्ड, पृ0 462 पर उद्धृत कूर्मपुराण।
3. त्रयः स्नातका भवन्ति। विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्च।
   हारीत स्मृति, कुल्लूक, 3.2 पर उद्धृत हारीत, कृत्य0पृ0 277-278, स्मृ0चं0, आ0का0. पृ0 114, पाराशर माधवीय, प्रथम खण्ड, पृ0 461.
4. आर0सी0मजूमदार : हिस्ट्री आफ बंगाल, पृ0 447.
5. कृत्य0ब्रह्म0, पृ0 275 पर उद्धृत याज्ञवल्क्य।
6. वहीं, पृ0 276 पर उद्धृत आपस्तम्ब।

प्राप्त हो तो वह गुरू ऋण से उऋण नहीं हो सकता है।[1] वशिष्ठ का मत है कि यथाशक्ति गुरू दक्षिणा अवश्य देना चाहिए।[2] धर्मग्रन्थों में उद्धृत है कि ब्रह्मचारी को वेद का अध्ययन या व्रतों को समाप्त कर अथवा वेदाध्ययन एवं व्रत दोनों ही पूरा करके यथाशक्ति गुरू को दक्षिणा देकर उनकी आज्ञा से शिष्य को स्नान करना चाहिए।[3] गुरू सेवा से विद्या प्राप्त करके गुरू की आज्ञा से विधिवत् स्नान कर गुरू दक्षिणा देना समावर्तन संस्कार के अन्तर्गत था।[4] लक्ष्मीधर का विचार है कि स्नान करने के पश्चात ही प्रीतिपूर्वक गुरू को भूमि, गाय, सोना, अश्व आदि दान में दे।[5] देवण्णभट्ठ के अनुसार गुरू दक्षिणा देने के पश्चात विद्यार्थी अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकता है परन्तु उससे पूर्व गुरू के सानिध्य में रहकर गुरू वचनों के अनुसार ही शिष्य को रहना पड़ता था।[6] इस प्रकार विवेच्य युग में समावर्तन संस्कार के सुअवसर पर आचार्य को गुरूदक्षिणा प्रदान करना ब्रह्मचारी का नैतिक कर्तव्य समझा जाता था।

समावर्तन संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचारी विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था।[7] अभिलेखों में भी ब्रह्मचारी द्वारा शिक्षा समाप्त करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश का उल्लेख प्राप्त होता है।[8] मनु का विचार है कि गुरू से आज्ञा प्राप्त

---

1. कृत्य० ब्रह्म०, पृष्ठ 275.
2. वहीं, पृ० 276. पर उद्धृत वशिष्ठ।
3. याज्ञ० पर विज्ञानेश्वर, आचाराध्याय, विवाह प्रकरण, श्लोक 51, व्यासस्मृति, पृ० 359. श्लोक 43, शंखस्मृति, पृष्ठ 376. तृतीय अध्याय, श्लोक 15.
4. कृत्य० ब्रह्म०, पृ० 275 पर उद्धृत व्यास।
5. वहीं, पृ० 275 पर उद्धृत मनु।
6. स्मृ० चं०, पृ० 133.
7. ब्रह्मचारी ---- दीर्घश्मश्रुः सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान् संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्। अथर्व०, 11/5/6.
8. ज०ए०सो०बं०, पृ० 292, ए०इ० भाग 2, पृ० 162.

किया हुआ ब्रह्मचारी अपनी गृह्योक्त विधि से स्नान कर अपने समान वर्ण वाली, शुभ लक्षणों से युक्त कन्या से विवाह करे।[1] महाव्याहृतिपूर्वक होम कर यह संस्कार पूर्ण किया जाता था।[2] मेधातिथि के अनुसार जो ब्रह्मचारी पितृगृह में अध्ययन करता था वह बिना समावर्तन के विवाह कर सकता था। यद्यपि ऐसे लोग भी थे जो समावर्तन को विवाह का अंग मानते थे।[3] नवीन विद्याओं के अभ्यास तथा निपुणता प्राप्ति के लिए समावर्तन और विवाह के बाद भी अध्ययन किया जा सकता था।[4] देवण्ण भट्ट का यह मत है कि व्रत-स्नातक को यह छूट थी कि वह वेद का अर्थ और अध्ययन विवाह के उपरान्त भी कर सकता था।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि आलोच्य काल में अल्प आयु में विवाह के प्रचलन से समावर्तन की अवधि महत्व हीन होती जा रही थी और समाज द्वारा विवाहोपरान्त अध्ययन को मान्यता मिलने लगी थी।

आचार्य विद्यार्थी को कर्तव्यनिष्ठ और सत्यनिष्ठ गुणों से पूर्ण योग्य समझकर उसे समावर्तन संस्कार द्वारा पवित्र ब्रह्मचर्याश्रम केवस्त्रादि को दूर कर गृहस्थाश्रम में जाने की अनुमति देता था। समावर्तन संस्कार में आचार्य विद्यार्थी को स्वाध्याय के प्रति जागरूक रहने, सद्कर्मों को करने और गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यों के पालन का उपदेश देकर उसे आश्रम से सस्नेह विदा कर देते थे। स्नातक आचार्य का आशीर्वाद और अनुमति प्राप्त कर गृह की ओर प्रत्यावर्तन करता था।[6]

---

1. स्मृ०चं०, आ०का०, पृष्ठ 115 पर उद्धृत पाराशर माधवीय, 1, पृ० 46.
2. आर०सी०मजुमदार : पूर्वोद्धरित, पृष्ठ 447.
3. मेधातिथि, 3.4 स्नान शब्देन गृह्योक्त संस्कार विशेषो लक्ष्यते ब्रह्मचारिधर्माविधिः। गुरुकुलात्पितृगृहं प्रत्यागत।
4. मेधातिथि, 9.76
5. स्मृ०चं०, आ०का०. पृ० 114.
6. आर०सी०मजुमदार : पूर्वोद्धरित, पृ० 447.

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों से सिद्ध होता है कि विवेच्य युग में ब्रह्मचर्यावस्था विद्यार्थी के शैक्षणिक जीवन की अनिवार्यता नहीं रह गयी थी। तद्युगीन समाज की परिवर्तनशीलता के कारण समावर्तन संस्कार का प्रभाव भी संकुचित हो रहा था। फिर भी यह संस्कार विद्यार्थी के शिक्षा की पूर्णता, अध्ययनोपरान्त गृह वापसी और गृहस्थ जीवन में विधिवत प्रवेश का प्रतीक था ।

बौद्ध शिक्षा और संस्कार :

बौद्ध शिक्षा में बौद्ध धर्म एवं संघ में विश्वास करना ही प्रवेश पाने की मुख्य योग्यता थी । ऋणी, अशक्त या राजपुरुष को दीक्षा नहीं दी जा सकती थी ।सम्पूर्ण संघ की स्वीकृति से ही दीक्षा दी जा सकती थी। बौद्ध धर्म में दीक्षित होने के लिए जात-पात का कोई भेद नहीं था ।[1] विनयपिटक में नवागत शिष्य के संघ-प्रवेश सम्बन्धी नियम बनाये गये थे।[2] शिष्य को सद्धिविहारिक कहते थे ।[3] बौद्ध ग्रन्थों में बौद्ध शिक्षार्थी के लिए दो संस्कारों का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रथमत: पब्बजा और द्वितीयत: उप सम्पदा । संस्कार सम्पादित होने से पूर्व प्रत्येक नवागत या सामनेर को किसी भिक्षु को अपना गुरू बनाना पड़ता था ।कोई भी भिक्षु कम से कम दस वर्ष की अवधि तक भिक्षु हुए तथा विद्वत्ता एवं योग्यता प्राप्त किये बिना आचार्य नहीं बन सकता था ।[4] पब्बजा संस्कार संरक्षक की अनुमति से बालक के आठवें वर्ष की आयु में आयोजित किया जाता था।[5] उसके बाद नवागत शिष्य बारह वर्ष तक अध्ययन करता था ।प्रथम काल की समाप्ति के उपरान्त संघ में पूर्ण प्रवेश पाने के लिए उपसम्पदा संस्कार सम्पादित होता था ।यह संस्कार शिक्षार्थी के बीस वर्ष की आयु में संघ के कम से-कम दस प्रमुख भिक्षुओं की उपस्थिति में होता था ।बौद्ध शिक्षार्थी की दैनिक

1. अल्तेकर :पूर्वोद्धरित, पृ0 171.
2. महावग्ग, 1.38
3. वही, 1.25.
4. वही, 1.27.
5. मज्झिम निकाय, 2.10.3

दिन-चर्या हिन्दू ब्रह्मचारी जैसा ही था ।[1]

इस प्रकार प्रमाणित होता है कि बौद्ध शिक्षा के अन्तर्गत ज्ञान-पिपासुओं को जाति या वर्ग के आधार पर न बाँटकर, बौद्धिक विकास के आधार पर बाँटा गया था ।

2. प्रारम्भिक शिक्षा

विवेच्य युग के पूर्व और अति-प्राचीन काल में प्रारम्भिक शिक्षा सामान्य रूप से किसी संस्था के माध्यम से न होकर परिवार और पारिवारिक सदस्यों के माध्यम से ही होती थी । सम्बद्ध रूप से जिस शिक्षा का प्रारम्भ उपनयन के बाद प्रारम्भ होता था वहअब उसके बहुत पूर्व अक्षरारम्भ संस्कार से प्रारम्भ किया जाने लगा था ।यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि अक्षरारम्भ संस्कार विद्या सम्बन्धी संस्कारों में उपनयन के पूर्व का संस्कार है किन्तु इसका विकास उपनयन संस्कार के बादहुआ । प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करने के लिए कुछ विशेष व्यवस्थाओं का उल्लेख मिलता है जैसे अलतेकर के अनुसार बहुत समय तक परिवार में ही प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था थी. बाद में पुरोहित द्वारा भी प्रारम्भिक शिक्षा देने की व्यवस्था की गयी थी ।[2]सम्भवतः गांव का पुरोहित या अन्य परिवार का सदस्य प्रारम्भिक शिक्षा देने का कार्य करता था ।[3]लेकिन प्रारम्भिक शिक्षा सबके लिए एक समान नहीं थी । तद्युगीन समाज में व्यक्तिगत आचार्यों की नियुक्ति के उद्धरण प्राप्त होते हैं।प्रभावती गुप्त के पूना ताम्रपत्राभिलेख में चनालस्वामिन् को परिवार का आचार्य कहा गया है।[4]राजतरंगिणी में कामदेवनामक अध्यापक काउल्लेख है जो मेरुवर्धन ।मंत्री। के यहाँ बालकों को पढ़ाया करता

---

1. अलतेकर :पूर्वोद्धरित,पृ0 17।.

2. अलतेकर :एजुकेशन इन एंशियण्ट इण्डिया,पृ0 176.

3. वही : राष्ट्रकूट एण्ड देयर टाइम्स,पृ0 399.

4. फ्लीट : सी0आई0आई0 वाल्यूम 3. पृ0 99.

था।[1] सम्भव है कि प्रत्येक सम्पन्न परिवार में आचार्य होते हैं। अलतेकर के मतानुसार धनी व्यक्ति के बालक को पढ़ाने के लिये अध्यापक की नियुक्ति की जाती थी और उसके साथ ग्रामीण बालक भी अध्ययन कर लेते थे।[2] यदि गांव में ऐसा कोई धनी नहीं रहता था तो ग्रामीण अपने सामर्थ्यानुसार चन्दा देकर अध्यापक रखते थे।[3] नर्ममाला में एक नियोगी ।सामान्य कर्मचारी। परिवार का उल्लेख है जिसके यहाँ निश्चित वेतन पर एक अध्यापक की नियुक्ति बालकों को नित्य पढ़ाने के लिए हुई थी।[4]

आचार्यगण अब एकान्त वनों से हटकर शिष्यों को उनके घरों में शिक्षा देने का कार्य करने लगे थे फिर भी गुरुकुल प्रणाली समाप्त नहीं हुई थी। रूपशतकम् से ज्ञात होता है कि साधारण परिवार के बालक प्रारम्भिक शिक्षा के लिए मठों में जाते थे।[5] इन मठों में उन्हें लिखना, पढ़ना, गिनती हिसाब करना तथा कुछ मंत्रों का ज्ञान प्रदान किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[6] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक पाठशालाएँ प्रायः मन्दिरों और मठों से ही सम्बन्धित रहा करती थीं। प्राचीन काल में आज की तरह के प्रारम्भिक स्कूलों का उल्लेख भी नहीं मिलता है न ही उच्च शिक्षा से प्रारम्भिक शिक्षा को अलग

---

1. स शिक्षिताक्षरो लब्ध्या मेरुवर्धन मन्दिरे ।
   बालाध्यापकतां स्नानशीलादिगुणभूषित :।।
   -राजतरंगिणी, पृ0 159, श्लोक 470.

2. अलतेकर :पूर्वोद्धरित, पृ0 136,

3. वही ।

4. क्षेमेन्द्र, नर्ममाला, पृ0 17.

5. डा0 बी0एन0एस0यादव : सोसाइटी एण्ड कल्चर इननार्दर्न इण्डिया, पृ0 403.

6. डा0 बी0एन0एस0यादव : पूर्वोद्धरित, पृ0 403.

रखने की कोई विशेष सीमा थी ।[1] चीन में भी प्रारम्भिक शिक्षा बौद्ध मठों में दी जाती थी।[2] जैन मन्दिरों में भी प्रारम्भिक शिक्षा का कार्य होता था।[3] तिब्बत में बौद्ध बिहार प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था करते थे।[4] बर्मा में आज भी बौद्ध विचारों के माध्यम से शिक्षा दी जाती है ।[5] विग्रह पाल चतुर्थ द्वारा स्थापित सरस्वती मन्दिर में सम्भवतः चाहमान साम्राज्य के सभी हिस्सों से विद्यार्थी आते थे ।[6] राजतरंगिणी से भी प्रारम्भिक शिक्षा के लिए वैष्णव मन्दिर का उपयोग किये जाने का संकेत प्राप्त होता है।[7]

विवेच्ययुगीन ग्रन्थों में प्रारम्भिक पाठशालाओं और उनके आचार्यों के सन्दर्भ में अल्प उद्धरण ही प्राप्त होते हैं। अभिलेखीक साक्ष्यों से भी इस सन्दर्भ में कम ज्ञान प्राप्त होता है।[8] इतना स्पष्ट है कि 400ई0 तक उच्च शिक्षा के लिए भी सार्वजनिक पाठशालाएं न थी अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि सुदीर्घ काल तक प्रारम्भिक शिक्षा के लिए भी पाठशालाएं कम थी। इस प्रकार अध्यापक अपने घर पर ही निजी पाठशालाओं में शिक्षा देते थे ।[9] राजतरंगिणी से दसवीं शताब्दी में कश्मीर के प्रारम्भिक शिक्षकों का वर्णन मिलता है।[10] प्रारम्भिक शिक्षा के अध्यापकों के वेतन के सम्बन्ध में हमें

---

1. एस0 के0 दास : एजुकेशनल सिस्टम आफ दि एंशेन्ट हिन्दूज, पृ0 32.
2. वहीं, पृ0 43.
3. अपभ्रंश काव्यत्रयी, पृ0 15.
4. दास : इण्डियन पण्डितस इन दि लैण्ड आफ स्नो, पृ0 3-11.
5. दि इण्डियन इम्पायर गजेटियर, 1907, भाग 4, पृ0 416.
6. दशरथ शर्मा : अर्ली चौहान डायनेस्टी, पृ0 324.
7. राजतरंगिणी : 5.29.
8. जरनल आफ द बिहार रिसर्च सोसाइटी, जिल्द 46, भाग 1-4, पृ0 124, 1970.
9. अलतेकर : पूर्वोद्धरित, पृ0 135.
10. वहीं, पृ0 136. राजतरंगिणी, प्रथम भाग, पृ0 136, 1991 अंग्रेजी अनुवाद।

सुनिश्चित जानकारी नहीं प्राप्त होती है। नलविलास में संकेत मिलता है कि अध्यापकों को न्यूनतम वेतन प्राप्त होता था ।[1]

विचारणीय प्रश्न यह है कि बालक कितने वर्ष की आयु में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करता था ? "इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली" में प्रारम्भिक शिक्षा की अवस्था पाँच से बारह वर्ष तक की बतायी गयी है।[2] दशरथ शर्मा के अनुसार पाँचवें या आठवें वर्ष में बालक को गुरु चरणों में पहुँचाने का सौभाग्य होता था ।[3] इत्सिंग के विवरण से ज्ञात होता है कि बालकों की शिक्षा का प्रारम्भ छः वर्ष की आयु से होता था ।[4] ऐसा ही उल्लेख तिलकमंजरी में राजकुमार हरिवाहन के लिए मिलता है।[5] कादम्बरी में उल्लेख है कि चन्द्रापीड की शिक्षा का प्रारम्भ छः वर्ष की आयु से प्रारम्भ हुआ था।[6] ह्वेनसांग ने तद्-युगीन प्रारम्भिक शिक्षा का उल्लेख सात वर्ष में किया है।[7] संस्कारप्रकाश[8] तथा संस्कार-रत्नमाला[9] में विद्या का आरम्भ उपनयन के पहले पाँच वर्ष की अवस्था से माना गया है। अपरार्क[10] और स्मृतिचन्द्रिका[11] ने मार्कण्डेयपुराण

---

1. नल-विलास, पृ० 8.
2. द इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, जिल्द 5, भाग 3, पृ० 483, 1929.
3. डॉ० दशरथ शर्मा : चौहान सम्राट पृथ्वीराज तृतीय और उनका युग, पृ० 69.
4. ताकाकुसु, पृ० 172. द जरनल आफ द युनाइटेड प्राविंसेज हिस्टारिकल सोसाइटी, जिल्द 3, भाग 1, पृ० 101, 1923.
5. ब्रज नारायण शर्मा : पूर्वोक्त, पृ० 77 पर उद्धृत तिलकमंजरी, पृ० 64.
6. वही, पृ० 77 पर उद्धृत कादम्बरी, पृ० 153.
7. वाटर्स, ह्वेनसांग, भाग 1, पृ० 154-155.
8. संस्कारप्रकाश, पृ० 221-225.
9. संस्काररत्नमाला, पृ० 904-907.
10. जयशंकर मिश्र : ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० 167 पर उद्धृत अपरार्क, -पृ० 30-39.
11. वही, पृ० 167 पर उद्धृत स्मृतिचंद्रिका, 1, पृ० 26.

को उद्धृत करते हुए विद्यारम्भ की अवस्था पाँच वर्ष बताया है । शिक्षा के आरम्भ के लिए पाँचवाँ वर्ष सबसे उत्तम माना गया था ।[1] लव-कुश ने पाँच वर्ष की अवस्था में विद्यारम्भ किया था ।[2] मुसलमानों में विद्यारम्भ बिस्मिल्ला खानि नामक धार्मिक कृत्य से होता है। यह बालक के पाँचवें वर्ष के चौथे महीने चौथे दिन किया जाता है। बादशाह हुमायूँ को पाँच वर्ष चार दिन और चार माह पर मंकतब में प्रवेश कराया गया था ।[3] इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि विवेच्य युग में बालक की पाँच वर्ष की आयु प्रारम्भिक शिक्षा के लिए आदर्श मानी जाती थी जो बालक किन्हीं कारणों से पाँच वर्ष की आयु में शिक्षा प्रारम्भ नहीं कर पाते होंगे वे बारह वर्ष की अवस्था तक अवश्य ही विद्यारम्भ कर देते रहे होंगे ।

प्रारम्भिक शिक्षा का पाठ्यक्रम एक विचारणीय प्रश्न है। ह्वेनसांग एवं इत्सिंग के विवरणों से ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम बालक वर्णमाला और संयुक्ताक्षरों का ज्ञान प्राप्त करते थे । इस कार्य में छः माह का समय लगता था ।[4] ह्वेनसांग ने बालकों की प्रारम्भिक शिक्षा "सिद्धमचंग से आरम्भ होना बताया है। "सिद्धम्" सफलता का द्योतक था । "सिद्धम" की समाप्ति के पश्चात् सातवें वर्ष पंचविद्याओं का अध्ययन कराया जाता था।[5] ये पंच विद्याएँ थीं[6] - 1. शब्द विद्या ।व्याकरण।, 2. शिल्प विद्या ।शिल्प और कला।, 3. चिकित्सा विद्या ।आयुर्वेद।, 4. हेतु विद्या ।न्याय अथवा तर्क।, 5. आध्यात्म विद्या ।दर्शन-

---

1. ज0र0ए0सो0बं0, 1935, पृ0 249.
2. भवभूति, उत्तररामचरित, अंक 2.
3. शाहजहाँनामा : ज0र0ए0सो0बं0. 1935. पृ0 249.
4. द जरनल आफ द युनाइटेड प्राविंसेज हिस्टारिकल सोसाइटी, जिल्द 3, भाग 1. पृ0 101. 1923, ता0का0गु0, पृ0 172.
5. वाटर्स, भाग 1, पृ0 ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ0 167.
6. वही. जरनल आफ द युनाइटेड प्राविंसेज हिस्टारिकल सोसाइटी. जिल्द 3. भाग 1, पृ0 101, 1923.

शास्त्र, कुमारजीव तथा गुणभद्र के इन पंच विद्याओं में दक्ष होने का उल्लेख है।[1] इत्सिंग ने भी पंचविद्याओं का उल्लेख किया है।[2] इत्सिंग ने बालकों की प्रारम्भिक शिक्षा का आरम्भ "सिद्धिरस्तु"-नामक पुस्तक से माना है जिसमें वर्णमाला के 49-स्वर और व्यंजन-का विनियोग था।[3] इस पुस्तक में 300 से अधिक श्लोक बताये गये है जिसमें दस हजार से भी अधिक अक्षर प्रयुक्त हुए थे।[4] विद्यार्थियों को सर्वप्रथम वर्णमाला से परिचित होकर क्रमशः निर्दिष्ट विद्या के अध्यवसाय द्वारा अपना ज्ञान बढ़ाना पड़ता था।[5] इत्सिंग के अनुसार यदि चीन के लोग भारत अध्ययन करने आयें तो पहले उन्हें व्याकरण कृतियों का अध्ययन करना होगा, तभी किसी अन्य विषय का अन्यथा उनका परिश्रम व्यर्थ होगा। उसने तर्क अथवा न्याय विद्या (हेतुविद्या) और अभिधर्म कोश-के अध्ययन का भी उल्लेख किया है।[6] तर्क के अन्तर्गत वे नागार्जुन द्वारा न्याय द्वार तारक शास्त्र का अध्ययन करते थे।[7] इत्सिंग ने प्रारम्भिक शिक्षान्तर्गत आयुर्वेद का अध्ययन सभी के लिए यहां तक की भिक्षुक बनने के इच्छुक व्यक्ति के लिए भी आवश्यक बताया है।[8]

---

1. वाटर्स, भाग 1, पृष्ठ 158.
2. आर०के०मुकर्जी: एन्शियेन्ट इण्डियन एजुकेशन, पृ० 538 पर उद्धृत द जरनल आफ द युनाइटेड प्राविंसेज हिस्टारिकल सोसाइटीज, जिल्द 3, भाग-1. पृ०101, 1923
3. इत्सिंग, रेकार्ड आफ द बुद्धिस्ट रिलिजन, पृ०165, ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ०168.
4. प्रोसीडिंग्स आफ द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, पृ०128. 1941. द जरनल आफ द युनाइटेड प्राविंसेज हिस्टारिकल सोसाइटी. जिल्द-3, भाग-1. पृ0 101, 1923.
5. ए रिकार्ड आफ बुद्धिस्ट रिलीजन, ट्रेवेल्स आफ इत्सिंग, पृ0116. वाटर्स भाग-1
6. आर०के०मुकर्जी: एन्शियन्ट इण्डियन एजुकेशन, पृ0538.
7. वहीं,
8. प्रोसीडिंग्स आफ द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, पृ0 129. 1941, द जरनल आफ द युनाइटेड प्राविंसेस हिस्टारिकल सोसाइटी, जिल्द-3. भाग-1. पृ0 101-102, 1923.

द इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली के अनुसार प्रारम्भिक शिक्षा के मुख्य विषय लिपियां लेख§वर्णमाला पढ़ना एवं लिखना§,कला,रेखागणित एवं गणना §अंकगणित§ थे।[1] अलतेकर के अनुसार 1200ई0 में लेखन,पठन तथा गणना,प्राकृत भाषा की अच्छा ज्ञान तथा सम्भवतः संस्कृत का भी अल्पज्ञान और महाकाव्यों की कथाख्यायिकाओं के माध्यम से बालकों को नीति की शिक्षा देना ही प्रारम्भिक शिक्षा का पाठ्य क्रम था।[2] ब्राहमण बालक जो कि बाद मे भी संस्कृत की शिक्षा ग्रहण करने वाले होते थे उन्हें संस्कृत व्याकरण का भी ज्ञान करा दिया। जाता था।[3] किन्तु कृषकों और व्यापारियों के बच्चों के पाठ्यक्रम में साधारण व्यापार,गणित ही मुख्य रूप से सिखलाया जाता था।[4] भूमि का क्षेत्रफल निकालना दैनिक से मासिक तथा मासिक से दैनिक वेतन निकालना,मन,सेर,छटांक के गुणा भाग करना आदि प्रारम्भिक कक्षा में अध्यापन के मुख्य विषय थे।[5] प्रारम्भिक शिक्षान्तर्गत "मातृका न्यास" और गणित विषय के अध्ययन का प्रमाण प्राप्त होता है।[6]

----

1. द इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली,जिल्द-5,भाग-3,पृ0 483.
   1929,द जरनल आफ द बिहार रिसर्च सोसाइटी,पृ0 124,1970.
2. अलतेकर : पूर्वोक्त, पृ0 137.
3. वही, पृ0 138.
4. वही,
5. वही,
6. स्मृ0 चं0,संस्कार काण्ड ,पृ0 26,याज्ञ0 स्मृति पर अपरार्क,1,131.

लेखन के सम्बन्ध में अल्बेरूनी लिखता है कि हिन्दू बायें से दायें और यूनानियों की तरह लिखते हैं।सबसे प्रमुख वर्णमाला" "सिद्धमात्रिका "थी जिसे कुछ लोग कश्मीर से उद्भूत मानते थे किन्तु यही वर्णमाला बनारस,मध्यदेश और कन्नौज में भी प्रयुक्त होती थी ।[1]

प्रारम्भिक शिक्षा के उत्तरकाल में ब्रह्मचारी पाणिनी के सूत्रों या व्याकरण के अन्य ग्रन्थों का अध्ययन करते थे ।[2] सम्पूर्ण व्याकरण विज्ञान पाणिनी के सूत्रों पर आधारित था,जिससे व्याकरण की शिक्षा का प्रारम्भ होता था ।[3] ताकाकुसु से भी पाणिनी व्याकरण के अध्ययन का स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होता है ।[4] प्रारम्भिक शिक्षा में पाणिनी के पूर्ण अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी जयादित्य द्वारा रचित "काशिकावृत्ति" जो पाणिनी के सूत्रों की सबसे अच्छी टीका थी,का अध्ययन करते थे ।[5] इत्सिंग के अनुसार पन्द्रह वर्ष की आयु में बालक इसका अध्ययन प्रारम्भ करते थे तथा वर्षों मेंसमाप्त करते थे ।[6] जयादित्य के वृत्ति सूत्रों के अध्ययन के पश्चात् छात्र गद्य,पद्य अथवा किसी दूसरे विज्ञान का अध्ययन प्रारम्भ कर सकते थे ।[7]

विवेच्य युग में लोक भाषाओं के विकास से प्रारम्भिक शिक्षा के पाठ्य-क्रम में परिवर्तन अवश्य हुआ होगा। अल्बेरूनी के अनुसार प्रारम्भिक शिक्षा लोक भाषा अपभ्रंश के माध्यम से दी जाती थी ।[8]सल गुंड।मैसूर।की एक

1.सचाऊ: अल्बेरूनीज इण्डिया,भाग- 1,पृ0 171,173.

2. इ0हि0क्वा0,जिल्द 5,भाग-3,पृ0 483,1929,द जर्नल आफ द युनाइटेड प्राविंसेज हिस्टारिकल सोसाइटी,जिल्द -3,भाग-1,पृ0 101,1923.

3. ब्रज नारायण शर्मा:सोशल लाइफ इन नार्दर्न इण्डिया,पृ0 78.

4. ताकाकुसु, पृ0 172.

5. द जरनल आफ द युनाइटेड प्राविंसेज हिस्टारिकल सोसाइटी जिल्द-3, भाग 1,पृ0101,1923.

6. वहीं.

7. ताकाकुसु,पृ0 176.

8. सचाऊ : अल्बेरूनीज इण्डिया,भाग-1. पृ0 18.

पाठशाला में बारहवीं शताब्दी में कन्नड़ के अध्यापन की व्यवस्था का उल्लेख आया है।[1] मैसूर प्रान्त के ही नरसीपुर नामक स्थान के एक विद्यालय में ।1297 ई0। कन्नड़, तेलगु तथा मराठी का अध्ययन -अध्यापन होता था ।[2] अलमसूदी ।943 ई0। ने अपने विवरण में अनेक लोग भाषाओं का उल्लेख किया है।[3] अपभ्रंश काव्यत्रयी[4] से ज्ञात होता है कि प्राकृत उससमय व्यवहार में आने वाली लोक भाषाओं में मुख्य भाषा थी । सुगम और सरल होने के कारण स्त्री और बालकों के सामान्य संवाद में इसका प्रयोग होता था । बौद्ध विहारों में पाली के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी।[5] आलोच्यकाल में पाली जनसामान्य की भाषा थी ।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि विवेच्य युग में प्रारम्भिक शिक्षा का पाठ्यक्रम उच्च शिक्षा की तरह विस्तृत नहीं था । फिर भी बदलते हुए सामाजिक परिवेश के कारण प्रारम्भिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है सम्भवतः इसके लिए लोक भाषाओं का विकास उत्तरदायी रहा होगा।

3. शिक्षा और वर्ण व्यवस्था :

ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह सिद्ध हो चुका है कि प्राचीन भारत में शिक्षा का वर्ण व्यवस्था से गहरा तादात्म्य रहा है। हमारे अध्ययन काल ।700 ई0 से ।200 ई0। में वर्णगत शिक्षा पर तद्युगीन सामाजिक रूढ़िवादिता का यथेष्ट प्रभाव पड़ा। जिसके परिणाम स्वरूप अनेक व्यवसायों से सम्बन्धित

---

1. अलतेकर :पूर्वोक्त पृ0 137.
2. वहीं.
3. इलियट, हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग-1, पृ0 24-25.
4. अपभ्रंश काव्यत्रयी, पृ0 73.
5. बख्श : ए कल्चरल हिस्ट्री एजुकेशन, पृ0 160.

शिक्षा भी सम्बद्ध जातियों में सिमटती गयी और शिक्षा के विषय भी उन्हीं जातियों के पर्याय बन गये ।

भारतीय धर्म ग्रन्थों में द्विजातियों के धर्म में ब्राह्मण का कार्य अध्ययन और अध्यापन, क्षत्रिय का यज्ञ करवाना, दान, तप, शास्त्रोपजीवी, होने के साथ ही अध्ययन करना, वैश्यों का कार्य दान देना, व्यापार करना, यज्ञ करवाना, अध्ययन करना तथा शूद्रों का धर्म व्यापार, कारू कर्म। शिल्पी-बढ़ई। इत्यादि कर्मों के साथ द्विजातियों की सेवा करना बताया गया है ।[1] मिताक्षरा में तीनों वर्णों के अध्ययन का उल्लेख है।[2] मनु ने यह निर्देश दिया है कि ब्रह्मचारी अध्ययन काल तक ही उक्त अब्राहम्ण गुरू का अनुगमन एवं सुश्रुषा करे ।[3]

प्राचीन काल में वेदों का शिक्षण मुख्यतया ब्राहम्णों द्वारा ही किया जाता था ।[4] मनु का भी मत है कि शिक्षण कार्य केवल ब्राहम्ण को ही करना चाहिए।[5] "मिताक्षरा में भी ऐसा ही उल्लेख है।[6] अल्बेरूनी के अनुसार ब्राहम्ण अपनी जीविका ब्राहम्ण और क्षत्रियों के अध्यापन द्वारा चलाते है।[7] ब्राहम्णों द्वारा सामवेद, मीमांसा तथा तर्कशास्त्र के अध्यापन का विवरण प्राप्त होता है।[8] अलमसूदी ।10वीं सदी। ने ब्राहम्णों को हिन्दुओं मे सबसे अधिक योग्य और विद्वान बताया हैं।[9] कृत्य कल्पतरू में उल्लेख है कि ब्राहम्ण यदि वेदाध्ययन

---

1. मनु, 1/6, 1/7, 1/8, स्मृतिनाम समुच्चय, पृ0 9, अत्रिसंहिता, द्विजातिनाम धर्मों, श्लोक, 13, 14, 15, स्मृतिनाम समुच्चय, पृ0 142, लाध्वाश्वलायन स्मृति पुष्पाचार प्रकरण, श्लोक 6, 7, पृ0 189, वशिष्ठ स्मृति द्वितीय अध्याय, श्लोक, 21-24, वही, पृ0 374, शंख स्मृति, पृ0अध्याय, 2.5
2. या0 स्मृति, मिताक्षरा, 1, 3.
3. मनु, 2/241.
4. मनु, 2/190. हारीत, 1/18.
5. वहीं, 1/88.
6. या0 स्मृति, मिताक्षरा, 1, 3.
7. अल्बेरूनीज इण्डिया, 2, पृ0 131-132.
8. ए0इ0 15 पृ0 298.
9. इलियट एण्ड डाउसन: हिस्ट्री आफ इण्डिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन-हिस्टोरियन्स, वा0 1, पृ0 19.

किये बिना ही अन्य विषयों का अध्ययन करता है तो वह शूद्र के समान है।[1] "वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मण अन्य विषयों की शिक्षा भी ग्रहण करते थे।[2] अबूजैद के अनुसार ब्राह्मण धर्म और विज्ञान के ज्ञाता है। उनमें बहुत से कवि, ज्योतिष, दार्शनिक और धर्मज्ञ राजा के दरबार में रहते है।[3] अल्बेरूनी लिखता है कि संकट के समय ब्राह्मण वणेत्तर व्यवसायों को अपना सकता है।[4] वेद विद्या के साथ-साथ शस्त्रविद्या में भी ब्राह्मण निपुणता प्राप्त करतेथे।[5] अपरार्क ने चिकित्सा कार्य करने वाले ब्राह्मणों को गर्हित बताया है।[6] इस प्रकार विवेच्य युग में अध्ययन -अध्यापन ब्राह्मणवर्ग का मुख्य पेशा था। यद्यपि आपद्काल में अन्य कर्म कर सकते थे फिर भी वेदाध्ययन किये बिना समाज में हेय समझे जाते थे।

आर०सी० दत्त के अनुसार ब्राह्मण लोग क्षत्रियों को वेदपढ़ाते थे।[7] क्षत्रियों द्वारा अध्यापन कार्य का भी उल्लेख प्राप्त होता है। अल्बेरूनी ने केवल ब्राह्मण एवं क्षत्रिय को ही वेदाध्ययन का अधिकारी बताया है।[8] विवेच्यकाल में क्षत्रिय विद्यार्थी से जिन प्रमुख शिक्षा विषयों का सम्बन्ध था, उसका उल्लेख "राजन्य की शिक्षा "नामक शीर्षक के अन्तर्गत वर्णन कियागया है।

----

1. कृत्य० ब्रम्ह०, पृ० 263.
2. प्रतिपाल भाटिया: द परमाराज, पृ० 276 पर उद्धृत तिलक मंजरी, प्रबन्ध चिन्तामणि, शृंगार मंजरी कथा।
3. इलियट: हिस्ट्री आफ इण्डिया, जिल्द, 1,
4. अल्बेरूनीज इण्डिया, भाग-2, पृ० 132.
5. वाचस्पत्ति द्विवेदी, कथा सरित सागर -एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ०180 पर उद्धृत कथा सरिता साग, 12/6/59. 2/2/15, 9/6/9, वही. पृ० 179. 8/6/8.
6. अपरार्क 3, 290, पृ० 155, अत्रिसंहिता, 387,
7. आर०सी०दत्त: लेटर हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ० 175,
8. अल्बेरूनीज इण्डिया : पृ० 136.

हमारे अध्ययन काल में वैश्यों में वैदिक शिक्षा का ह्रास हो चुका था। अध्ययन की दृष्टि से वैश्य शूद्र की श्रेणी में जा चुके थे।[2] विवेच्य युग से पूर्व वैश्य, ब्राह्मण के समान ही वेदाध्ययन के अधिकारी थे परन्तु आलोच्य काल में वैदिक शिक्षण का अधिकार उनसे छीना जा चुका था।[3] अलइदरीसी ने वैश्यों को कला कौशल में निपुण कारीगर तथा शिल्पी बताया है।[4] वैश्यों द्वारा राज्यकार्य करने एवं राज्यमंत्री होने का उल्लेख प्राप्त होता है।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक शिक्षा के द्वार बन्द होने के उपरान्त वैश्यों ने तद्-युगीन समाज में प्रचलित व्यवसाओं में मुख्य भूमिका निभाने लगे।

विवेच्य युग में शूद्रों को शिक्षा ग्रहण करने से पूर्णतः वंचित कर दिया गया था। क्यों कि केवल द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) को ही शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था। अल्बेरूनी ने लिखा है कि शूद्र के वेद पढ़ने पर जिह्वा काटने का विधान था।[6] अपरार्क के अनुसार शूद्रों को वेदाध्ययन का कोई अधिकार नहीं था। वे न तो वेद पढ़ सकते थे न ही उनके सामने वेद पढ़ाया जा सकता था।[7] शूद्र शिक्षक और उससे शिक्षित दोनों को घोर नरक का भागी बताया गया है।[8]

---

1. सचाऊ: अल्बेरूनीज इण्डिया, भाग 2, पृ0 136,
2. आर0सी0दत्त : लेटर हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ0 174, जयशंकर मिश्र, ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ0117.
3. आर0सी0दत्त : पूर्वोक्त, पृ0 175, जयशंकर मिश्र, पूर्वोक्त, पृ0 116.
4. इलियट एण्ड डाउसन, पूर्वोक्त, भाग-2, पृ0 16.
5. सी0आई0आई0, जिल्द4, भाग-2, पृ0 501, 415, 409, राजस्थान, पृ0151, प्रबन्ध चिन्तामणि, प्रथम अध्याय, पृ0 18, वही, अध्याय 3, पृ0 96. नीतिवाक्यामृतम्, 10.5.
6. अल्बेरूनीज इण्डिया, भाग-2, पृ0136. मृच्छकटिक, 9.21.
7. अपरार्क, पृ0 23,
8. वही, पृ0 154, -220.

बौद्ध और जैन शिक्षा ग्रहण करने के लिए वर्ण या जाति के आधार पर कोई भेद नहीं था। बौद्ध-जैन शिक्षा व्यवस्था में सभी वणिक व्यापारी समानरूप से शिक्षा प्राप्त करते थे। जैनो की वणिक जाति ने भी यशोवीर जैसे विद्वान को उत्पन्न किया था।[1] इस सन्दर्भ में वैश्यो एवं शूद्रोसे सम्बन्धित कुछ उद्धरण तद्‌युगीन हिन्दू धर्म ग्रन्थो में भी प्राप्त होते हैं। सोमदेव के अनुसार व्याकरण, छन्द, अलंकार, प्रमाणशास्त्र, दर्शन शास्त्र पर सभी का समान अधिकार है।[2] राजतरंगिणी में वैश्य तांत्रिक विद्वान का उल्लेख है जो पहले निम्न वर्ग का (चमार, धोबी आदि) गुरू बाद में उसने विद्वानो और सम्मानित लोगों को अपने प्रभाव में कर लिया था।[3] वामन पुराण में शैवाचार्यों के शूद्र और वैश्य शिष्यो का उल्लेख है।[4] लक्ष्मीधर के अनुसार विशुद्ध मस्तिष्क का शूद्र निकृष्ट, दुर्नामी ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य से उत्तम है।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि मेधातिथि के काल में शूद्रो के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया गया। मेधातिथि के अनुसार शूद्र व्याकरण तथा अन्य विद्याओं के शिक्षक हो सकते हैऔर स्मृतियों द्वारा निर्दिष्ट उन सभी धार्मिक कृत्यो को कर सकते है जो अन्य वर्णों केलिए थे।[6] वाममार्गी विचार धारा ने वैश्य, शूद्रको भी आचार्य पद का अधिकार प्रदान कर ब्राह्मणों के आचार्यत्व और दान ग्रहण करने के एकाधिकार को आघात पहुँचाया।[7]

---

1. चौहान सम्राट पृथ्वीराज तृतीय और उनका युग, दशरथ शर्मा, पृ0 63.
2. नीतिवाक्या मृतम् : भूमिका, पृ0 17.
3. राजतरंगिणी, 7. 279-283.
4. वामन पुराण, 6. 90-91.
5. कृत्य0, गृ0का0, पृ0 427.
6. मेधातिथि, मनु, 3. 67, 121, 156, 10. 127.
7. हाजरा: स्टडीज इन द पौराणिक रेकॉर्ड्स आन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, पृ0 245.

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि विवेच्य युग में शिक्षा पर वर्णव्यवस्था का प्रभुत्व होते हुए भी तद्युगीन समाज में जैनियों एवं बौद्धों के द्वारा शिक्षा के प्रसार के कारण आकांक्षी व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने का सुअवसर प्राप्त हो जाता था। यद्यपि वेद इसके अपवाद थे। क्यों कि वेदाध्ययन पर अभी भी ब्राह्मणों का एकाधिकार था, अतएव वेदों का अध्ययन सीमित होता गया।

तृतीय अध्याय
=============

शिक्षा के विषय
=============

(क) हिन्दू शिक्षा के विषय

(ख) बौद्ध एवं जैन शिक्षा के विषय

(ग) राजन्य की शिक्षा

(घ) व्यावसायिक शिक्षा

शिक्षा के विषय

मानव के जीवन और जगत के रहस्यों को जानने के लिए विद्या प्राचीन काल से सबसे उत्तम तथा उपयोगी साधन रही है। भारतीय विद्याओं को जानने ,उनके सन्निकट,पहुँचने,एवं प्रवेश करने के मार्ग को बताने में शास्त्र पारंगत ऋषियों,मनीषियो और चिन्तकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। समय की दीर्घ पृष्ठभूमि पर शिक्षा के विषय निरन्तर परिवर्तित परिभाषित एवं परिपुष्ट होते रहे है। पूर्वकाल में अध्ययन के विषयों में वेदों का जो महत्व था, हमारे अध्ययन काल 1700ई0 से 1200ई0 में वहीं पुराणो और स्मृतियो का हो गया था।[1] तत्कालीन लेखकों की रचनाओं से ज्ञात होता है कि वेदों का अध्ययन मनन कम होने लगा था।[2] इस काल के राजा वैदिक मंत्रों का पाठ करने वाले ब्राह्मणों से अधिक दान उन कवियों को देने लगे थे ,जो उनकी प्रशस्ति में काव्य रच देते थे।[3] यद्यपि प्रचुर संख्या में ब्राह्मण अब भी वेदों के पठन-पाठन द्वारा उनके संरक्षण के हेतु अगली पीढ़ी तक उन्हे पहुँचा देने के लिए उपलब्ध हो जाते थे।[4]

ऐतिहासिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि विवेच्य युगीन विद्यार्थियों को सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की शिक्षा प्रदान की जाती थी,जिससे शिक्षा ग्रहण करने के अनन्तर व्यक्ति सत्यनिष्ठ और कर्त्तव्यनिष्ठ नागरिक बनकर समाज एवं राज्य की सेवा कर सके। इस सन्दर्भ में समकालीन लेखकों, अभिलेखों एवं विदेशी यात्रियों के विवरणों से अध्ययन विषयों की लम्बी सूची प्राप्त होती है। अध्ययन की सुविधा हेतु इसे निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है। ---

---

1. अल्तेकर पूर्वोक्त पृ0 117.
2. जयशंकर मिश्र,प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास,पृ0 537.
3. अल्तेकर , पूर्वोक्त, पृ0 115.
4. वहीं, पृ0 114-15

‡1‡ हिन्दू शिक्षा के विषय

‡2‡ बौद्ध एवं जैन शिक्षा के विषय

‡3‡ राजन्य की शिक्षा

‡4‡ व्यावसायिक शिक्षा

हिन्दू शिक्षा के विषय

विवेच्य युगीन साक्ष्यों से उच्च शिक्षा के परम्परान्तर्गत विषयों में चतुर्दश विद्या का उल्लेख प्राप्त होता है। यथा-चार वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, ज्योतिष, छन्द, मीमांसा, तर्क, धर्म शास्त्र एवं पुराण।[1] अपरार्क, लक्ष्मीधर तथा अग्नि पुराण ने इन विद्याओं में आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र को भी जोड़ दिया है।[2] इन चारों को अपरा विद्या कहा गया है।[3] कामन्दक के अनुसार आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और शाश्वत रहने वाली दण्डनीति ये चारों विद्याएं शरीरधारियों के जीवन-निर्वाह और कल्याण के लिए होती है।[4] आन्वीक्षकी को आत्म विद्या ‡आध्यात्म विद्या‡ कहा जाता है क्यों कि उसके द्वारा तत्व को जानकर आत्मज्ञानी हर्ष और शोक से रहित हो जाता है।[5] कामन्दक के अनुसार ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद में वर्णित कर्म उपासनादि को त्रयी कहते है। चारों वेद उनके छः अंग, ज्योतिष, मीमांसा और

---

1. नीति वाक्यामृतम्, 3. 1, कामन्दकीय नीतिसार, 2. 13. पृथ्वीराजरासो, 1. 60में चौदह विद्याओं का उल्लेख हैं, यशस्तिलक, 4. 102, पृ063, नैषधीय चरित, 1. 4 सी0आई0आई0. जिल्द 4, भाग-2, पृ0 423, 626.
2. याज्ञ0पर अपरार्क का भाष्य, 1. 3‡यही पर ब्रम्हपुराण को उद्धृत कर अपरार्क वेदान्त और विद्या को भी स्थान देते है।‡, कृत्य0ब्रम्ह0पृ022 में उद्धृत विष्णु पुराण, अग्नि पुराण, 1. 18.
3. अपरार्क, 1. 3, पृ0 6, अग्नि पुराण, 1. 17
4. कामन्दक नीतिसार, सर्ग 2, श्लोक 2आन्वीक्षकी की त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती। विद्याश्चतस्त्र एवैता योग क्षेमाय देहिनाम ।।
5. वहीं, सर्ग 2, श्लोक 7-11.

न्याय का विस्तार धर्मशास्त्र और पुराण इन सभी को त्रयी विद्या कहते है। वार्ता के सम्बन्ध में इनका कथन है कि[2] कृषि कर्म, पशुपालन, वाणिज्य कर्म वार्ता के अन्तर्गत आते है। कामन्दक[3] ने वार्ता विद्या को सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से सर्वोत्तम माना है।

न्याय व्यवस्था के लिए दण्डनीति अत्यन्त उपयोगी विषय था।[4] सोमदेव के अनुसार आध्यात्म विषय में आन्वीक्षकी, वेद, यज्ञ आदि के विषय में त्रयी विद्या और कृषि कर्म, पशुपालन एवं व्यापार के सम्बन्ध में वार्ता विद्या तथा भद्र जनो का पालन और दुष्टों का दमन करने में दण्डनीति काम आती है।[5]

उपरोक्त वर्णनानुसार विद्याएं चार है- 1. आन्वीक्षकी ।दर्शन। 2. त्रयी ।ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद। 3. वार्ता ।कृषि, पशुपालन और व्यापार। 4. दण्डनीति ।राजनीति। । राजशेखर[6] इसमें साहित्य विज्ञान को भी जोड़ते है। अध्ययन के चार विषयों के अन्तर्गत चौदह विद्याओं का उल्लेख हुआ है, जिनमें चार वेद, छः वेदांग, मीमांसा, आन्वीक्षकी, पुराण और स्मृतियों को माना गया है।[7] वार्ता, कामसूत्र, शिल्प शास्त्र और दण्डनीति इन चारों विद्याओं को लेकर राजशेखर ने इनकी संख्या 18 मानी है।[8] शुक्राचार्य के अनुसार[9] विद्याएं अनन्त है परन्तु उसमें से मुख्य बत्तीस है। उत्तर रामचरितम् में यज्ञोपवीत से पूर्व आन्वीक्षकी, न्याय शास्त्र, वार्ता, राजनीति शास्त्र की शिक्षा वाल्मीकि द्वारा लव-कुश को दिये जाने का उल्लेख है।[10] उपनयन के

---

1. कामन्दक नीतिसार, सर्ग 2, श्लोक 12-13.
2. वही, सर्ग 2, श्लोक 18
3. वही, वर्ग 13, श्लोक 27.
4. वहीं सर्ग 2, श्लोक 2 ।
5. नीतिवाक्यामृतम्, पृ0 22, श्लोक 60 ।
6. काव्यमीमांसा, पृ0 4.
7. वहीं पृ0 3.
8. वहीं पृ0 4.
9. शुक्रनीतिसार, अध्याय 4, श्लोक 264.

पश्चात् वेदों की शिक्षा दी जाती थी।[1] आयुर्वेद, धनुर्वेद और गान्धर्ववेद का भी उल्लेख हुआ है।[2]

अध्ययन विषयों के बारे में जानकारी सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री ह्वेनसांग से भी प्राप्त होती है। उसके अनुसार पांच विज्ञान का अध्ययन करना आवश्यक था - शब्द विद्या (व्याकरण विज्ञान), शिल्प विज्ञान, चिकित्सा-विज्ञान, हेतु विद्या (न्याय अथवा तर्क) और आध्यात्म विद्या (दर्शन शास्त्र)।[3] अल्बेरूनी[4] ने ज्ञान-विज्ञान के विविध भारतीय विषयों और विभिन्न ग्रन्थों का उल्लेख किया है, जिससे स्पष्ट होता है कि तद्युगीन भारतीय समाज में अनेक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। उसने चारों वेदों, 18 पुराणों, बीस-स्मृतियों, रामायण, महाभारत, दर्शन, गणित, खगोल विद्या भूगोल, इतिहास, रासायन, भौतिक, साहित्य, संस्कृत आदि के विभिन्न विषयगत मतों और ग्रन्थों का उल्लेख किया है। आश्वलायन, वाजसनेय, छान्दोग्य, सांख्य आदि की अपनी अलग-अलग शाखा थी।[5]

प्राचीन साहित्य, दर्शन, महाभारत, पुराण, रामायण, तथा काव्यों का अध्ययन विवेच्ययुग में रुचिपूर्वक होता था। महाभारत एवं रामायण की शिक्षा का इतना प्रभाव था कि तद्युगीन नाटकों की कथा वस्तु के स्रोत प्रायः ये ग्रन्थ ही होते थे।[6] पाल शासक द्वारा महाभारत पढ़ने पर अनुदान दिये जाने का बंगाल अभिलेखों में उल्लेख प्राप्त हुआ है।[7] अभिलेखों में अध्ययन के विषय के अन्तर्गत पुराणों का श्रुति और स्मृति के साथ उल्लेख मिलता है।[8] शासकों

---

1. उत्तररामचरितम्, द्वितीय अंक,
2. वही,
3. वाटर्स, 1पृ0 155
4. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ0 175, अल्बेरूनीज इण्डिया, भाग 1, पृ0159.
5. ए0इ0, भाग-8, पृ0 154, भाग-19, पृ018-19, भाग 5, पृ0 117-118. भाग 8. पृ0 154.
6. शालिग्राम द्विवेदी : मृच्छकटिक शास्त्रीय, सामाजिक एवं राजनीतिक अध्ययन, पृ0 210.
7. ज0ए0सो0बं0, भाग-69. पृ0 67.
8. सी0आई0आई0, जिल्द 4, भाग-2, पृ0 483, 626, "श्रुतिस्मृति पुराणम्"

द्वारा पुराणों, आगमों, शास्त्री जैसे "भारत "श्रवण" और रामायण पढ़ने की सूचना है।[1] विभिन्न विद्याओं के साथ ही साथ तद्युगीन समाज में संस्कृत साहित्य का अध्ययन भी किया जाता था।[2]

अल्बेरूनी ने परवर्ती स्मृतियों का उल्लेख किया है और विष्णु, बृहस्पति, व्यास, औशनस, पाराशर, शातातप, संवर्त, दक्ष, वशिष्ठ, अंगरिस, यम, अग्नि, हारीत, शंख आदि स्मृतियों को वेदों से निकली बताया है।[3] ये स्मृति या तद्युगीन भाष्य निबन्ध ग्रन्थों में विस्तार से उद्धृत की गयी है। स्मृतियों के अध्ययन के प्रमाण अभिलेखों में भी प्राप्त होते है।[4] इस प्रकार स्पष्ट है कि स्मृतियों की टीकाओं और निबन्धों का प्रणयन तद्युगीन समाज के परम्परागत व्यवस्था में परिवर्तित दृष्टिकोण का सूचक है।

विवेच्य युगीन समाज में वेद का महत्व अभी भी बना हुआ था। अभिलेखों में वेदविद् ब्राम्हणों की प्रशंसा के विवरण प्राप्त होते है[5] जो वेद का अध्ययन कर वैदिक यज्ञ करते थे।[6] अल्बेरूनी के अनुसार ब्राम्हण वर्ण का ही व्यक्ति वेद पढ़ा सकता था, और ब्राम्हण और क्षत्रिय ही वेद का अध्ययन कर सकते थे।[7] स्मृति चन्द्रिका[8] और कृत्य कल्पतरू[9] के अनुसार एक वेद का अध्ययन करना ही यथेष्ट था जो बारह वर्ष में सम्यक रूप से पूर्ण होता था। कतिपय ब्राह्मण

---

1. सी0आई0आई0, जिल्द-4, भाग-2, पृ0 457.
2. वासुदेव उपाध्याय: दि सोशियो रिलिजस कन्डीशन्स आफ नार्दर्न इण्डिया पृ0 132.
3. सचाऊ, जिल्द 1, पृ0 131,
4. सी0आई0आई0 जिल्द 4, भाग-2, पृ0 462, 626,
5. जरनल आफ द एपिग्रैफिकल सोसायटी आफ इण्डिया, पृ0 91-106
6. ए0इं0, भाग-1, पृ0 41.
7. अल्बेरूनी इंण्डिया, भाग-2, पृ0 136,
8. स्मृ0चं0, 1, पृ0 29.
9. कृत्य0, ब्रम्ह0, पृ0 263,

दो, कुछ तीन और कुछ चारों वेदों का अध्ययन करते थे। जिन्हें क्रमशः द्विवेदिन, त्रिवेदिन और चतुर्वेदिन कहते थे। लक्ष्मीधर ने जीवन पर्यन्त छात्र रहने वाले नैष्ठीक ब्रह्मचारी का भी उल्लेख किया है।[1] यद्यपि हर्षचरित से ज्ञात होता है कि बाण ने षडंग, शिक्षा, कल्प, निरूक्त, छन्द और ज्योतिष सहित वेदों का सम्यक अध्ययन किया था।[2] ह्वेनसांग से भी वेदों के अध्ययन का प्रमाण प्राप्त होता है। तथापि समकालीन लेखकों से ज्ञात होता है कि तद्युगीन समाज में वेदों का अध्ययन-मनन कम होने लगा था, इसीलिए वेदविद् आचार्यों ने वेदों के अंशों को ही विद्यार्थियों को पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया था। जो सम्पूर्ण वेद का अध्ययन नहीं कर सकते थे, उनके लिए हलायुध ने 400 मंत्रों को इकट्ठा कर "ब्राम्हण सर्वस्व" की रचना की थी तथा लोगों को उसका अध्ययन करने के लिए निर्देशित किया।[3] तत्कालीन वेदविदों के सम्बन्ध में अल्बेरूनी ने लिखा है कि ब्राह्मण लोग बिना समझे ही वेद का पाठ करते थे। एक से सुनकर दूसरा भी वेद स्मरण कर लेता था। उनमें वेद का अर्थ जानने वाले बहुत कम है। उनकी संख्या और भी कम है। जिनकी विद्वता ऐसी हो जो वेद के विषयों और उसकी व्याख्या पर धार्मिक विवाद कर पाये।[4] फिर भी समकालीन लेखकों के अनुसार वेद का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना अपेक्षित था, तथा साथ ही धर्म की सभी धाराओं को समझना भी आवश्यक था। मात्र ऋचाओं को रटने से ही वेदाध्ययन का आशय पूर्ण नहीं होता था।[5] कथा सरित्सागर में वर्णित पाठ्य विषयों में वेद के अध्ययन के

---

1. कृत्य0, ब्रम्ह0, पृ0 271.74.
2. हर्ष चरित, पृ0 123. "सम्यक पठति साम्गोवेद: श्रुतानि च यथाशक्ति - शास्त्राणि,"
3. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ0 170.
4. अल्बेरूनीज इण्डिया, भाग- 2, पृ0 135.
5. मेधातिथि, 3.1.2. अपरार्क, पृ0 74,75.

अनेक उद्धरण प्राप्त होते है ।[1] राजशेखर ने कवियों के लिए भी वेदशास्त्र का ज्ञान आवश्यक माना गया है ।[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि विवेच्य युग में भी वेदों का अध्ययन पवित्र माना जाता था, और उसकी पवित्रता एवं आध्यात्मिकता को बनाये रखने के लिए तत्कालीन वेदविद् सार्थक प्रयास कर रहे थे।

विवेच्य युगीन समाज में व्याकरण अध्ययन का अत्यधिक महत्त्व था । व्याकरण भाषा और साहित्य की आत्मा होता है। कथासरित्सागर[3] में व्याकरण को सभी विद्याओं का मुख बतलाया गया है। ह्वेनसांग [4], अल्बेरूनी[5] और इत्सिंग [6] के विवरणों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। पंजाब के राजा आनन्द पाल (1000-1100ई0) जिसका गुरू वैयाकरण उग्र भूति था, की रचना व्याकरण ग्रन्थ शिष्य हिता वृत्ति थी, जिसके पाठ को में राजा द्वारा उपहार वितरण का उल्लेख है ।[7] परमारराजा उदयादित्य तथा नरवर्मन कालीन अभिलेखों से धारा नगरी के भोजशाला [8] का पता चलता है जिसमें संस्कृत व्याकरण के नियम थे । प्रतिहार[9] एवं पाल [10] अभिलेखों में व्याकरण की शिक्षा का उल्लेख प्राप्त होता है। रीवां अभिलेख के अनुसार[11] काशी में रहने वाले ब्राम्हण व्याकरण विद्या में पारंगत थे । प्रभावक चरित से ज्ञात होता है कि सिद्ध राज-जय सिंह के विजयोल्लासित होकर उज्जैनी नगरी में प्रवेश करने पर उसने वहां

---

1. कथासरित्सागर, 8. 6. 161, 6. 1. 164. 8. 6. 8. , 12. 7. 155, 12. 6. 69.
2. काव्य मीमांसा, पृ0 - 6.
3. कथासरित्सागर, 1/4/22.
4. वाटर्स 1, पृ0 155.
5. सचाऊ, भाग-1. पृ0 130-4
6. जय शंकर मिश्रप्रा0भा0 का सा0इतिहास, पृ0 542-43
7. अल्बेरूनीज इण्डिया, भाग-1, पृ0 136.
8. ए0इं0, भाग-24, पृ0 25.
9. ए0इं0, भाग-14, पृ0 325, भाग-18, पृ096.
10-वहीं, भाग-15, पृ0 295, इं0ए0, 14, पृ0 169.
11 वहीं, भाग -19, पृ0 296.

भोज के व्याकरण का अध्ययन होते देखा।[1] 1053ई0 के मुल गुण्ड शिलालेख में चान्द्र, जैनेन्द्रशब्दानुशासन, का तंत्र तथा ऐन्द्र व्याकरण का उल्लेख है।[2] तद्युगीन लेखकों ने भी व्याकरण के अनेक छोटे-छोटे ग्रन्थ लिखे।[3]

अल्बेरूनी व्याकरण के पांच विभिन्न विद्यालयों ऐन्द्र, चान्द्र, शाकट, पाणिनी का तंत्र, शशिदेव द्वारा लिखित शशिदेव वृत्ति, दुर्गविवृत्ति और शिष्यहितावृत्ति का उल्लेख किया है।[4] पाणिनी व्याकरण का विद्यालय उत्तरी पश्चिमी भारत तथा मध्यदेश में प्रचलित था।[5] चान्द्र व्याकरण के संस्थापक चांद्रगोमिन थे और यह व्याकरण तिब्बत, नेपाल और लंका में प्रचलित था।[6] ऐन्द्र व्याकरण नेपाल के बौद्धों का प्रिय विषय था। इसके संस्थापक चन्द्रगोमिन को ही मानते है।[7] शाकटायन ने 9वीं शताब्दी में व्याकरण पर "शब्दानुशासन" नामक पुस्तक की रचना की थी।[8] कातंत्र व्याकरण बंगाल तथा काश्मीर में सर्वाधिक प्रचलित था।[9] इस प्रकार भारतीय व्याकरण विद्या का अध्ययन तत्कालीन समाज में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों तक फैली थी।

---

1. सम्पा0: टी0आर0चिन्तामणि, पृ0 156, 157, 185, प्रका0मद्रास युनिवर्सिटी संस्कृत सीरीज। पाणिनी की अष्टाध्यायी के पश्चात् भोज की रचना"- सरस्वतीकण्ठा भरण"संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण है। प्रतिपाल भाटिया, द परमाराज, पृ0 294, बृजेन्द्र नाथ शर्मा, सोसल एण्ड कल्चरल हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया, पृ0 44.
2. गोकुल चन्द्र जैन: यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0 162.
3. गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा: मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ0 72.
4. सचाऊ, जिल्द 1. पृ0 135.
5. कीथ : हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ0 425.
6. वहीं, पृ0 431
7. वहीं,
8. वही पृ0, 432
9. बेल्वलकर: सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर, पृ0 91.

दर्शन भारतीय शिक्षा विदों का परम्परागत अध्ययन विषय रहा है विवेच्य युग में अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन और ग्रन्थों का प्रणयन हुआ ।सच तो यह है कि इस विधा का चरम विकास हम अपने अध्ययन काल ।700ई0 से 1200ई0। में पाते है।सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग- मीमांसा और वेदान्त हिन्दुओं के प्रमुख दार्शनिक विषय थे ।अल्बेरूनी से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है।[1] उसने इसे ब्रम्हविद्या तथा तप ब्रम्ह के समकक्ष और मोक्ष प्राप्त करने की विधि से सम्बन्धित विषय बताया है।[2] अभिलेखों में भी षड्दर्शन का उल्लेख मिलता है।[3] कल्चुरी, एवं चेदि अभिलेखों में देलुक ब्राम्हण को वेदान्त तत्व, सोमराज को पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा, कश्यप के वैशेषिक दर्शन अक्षपाद के न्याय दर्शन, सत्यसाधार नामक ब्राम्हण को न्याय दर्शन तथा रतन सिंह को काश्यप के सिद्धान्त और अक्षपाद के न्याय दर्शन का ज्ञाता कहा गया है।[4] "नलचम्पू में नल की शिक्षा के विषयान्तर्गत सांख्य दर्शन, वैशेषिक दर्शन, चार्वाक दर्शन और बौद्ध दर्शन आदि का उल्लेख है।[5] वासुदेव उपाध्याय के अनुसार षड्दर्शन के अन्तर्गत इस युग में न्याय, मीमांसा और वेदान्त अधिक प्रचलित था।[6]

सांख्य दर्शन का मूल ग्रन्थ कपिलकृत सांख्यसूत्र है।सांख्य लेखकों में वाचस्पति मिश्र की सांख्यतत्व कौमुदी।लगभग 850ई0।[7] के पहले गौड़पाद ने ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका की टीका लिखी।[8] विवेच्य युग में दर्शन के

---

1. अल्बेरूनीज इंडिया, जिल्द 1, पृ0 130-4.

2. वही. पृ0 131-32

3. सी0आई0आई0 जिल्द 4, भाग-2, पृ0 429.

4. वहीं, पृ0 462, 517, 549. 518.

5. नलचम्पू, चतुर्थ उच्छ्वास, पृ0 199.

6. वासुदेव उपाध्याय: पूर्वोक्त, पृ0 129.

7. बुद्ध प्रकाश: भारतीय धर्म एवं संस्कृति, पृ0 89.

8. ए0बी0कीथ: दि सांख्य सिस्टम, पृ0 69

अध्ययन में न्याय का अन्तर्भाव अत्यन्त आवश्यक माना जाता था।अतःदर्शन के विद्यार्थी न्याय के अध्ययन में पर्याप्त श्रम करते थे।[1] न्याय दर्शन के स्नातक से अपने दर्शन के प्रतिपादन की ही अपेक्षा नहीं की जाती थी अपितु विरोधी दर्शनों के खण्डन की भी आशा की जाती थी।गौतमकृत न्यायसूत्र है।अध्ययन काल में इस पर अनेक ग्रन्थों की रचनाएं हुईं।जयन्त ने ।नवींसदी। न्याय मंजरी, उदयन ने।दसवीं सदी। न्याय वार्तिक तात्पर्य परिशुद्धि की रचना की।[2] ।2 वीं सदी में गंगेश ने तत्वचिन्तामणि की रचना कर नव्य न्याय का प्रारम्भ किया।[3]

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक कणाद मुनि थे। वैशेषिक दर्शन के क्षेत्र में तद्युगीन लेखकों उदयन, श्रीधर और व्योमशेखर केनाम उल्लेखनीय है।उदयन ने प्रशस्तपाद और वाचस्पतित्त मिश्र की कृतियों पर टीकाएं लिखी।[4] दसवीं शताब्दी में व्योमशेखर ने प्रशस्तपाद के भाष्य पर एक अन्य टीका लिखीथी।[5] श्रीधर ने प्रशस्तपाद के भाष्य पर न्यायकदली नामक टीका लिखी थी।[6] योग दर्शन के प्रवर्तक पतंजलि है। अल्बेरूनी ने पतंजलि की पुस्तक योगसूत्र का उल्लेख करते हुए उसे मोक्षोपाय और आत्मा का लक्ष्य के साथ संयोग के उद्देश्य से रचित ग्रन्थ बताया।[7] भोज ने योगसूत्र पर राजमार्तण्ड की रचना तथा वाचस्पतित्त मिश्र के व्यास भाष्य की टीका तत्व वैशारदी योग पर लिखी कृतियां थी।

मीमांसादर्शन के संस्थापक जैमिनी थे।कुमारिल भट्ट ने सातवींसदी में "श्लोकवार्तिक", तंत्रवार्तिक, टुप्टीका लिखी तथा बौद्ध दर्शन का खण्डन कर मीमांसा के सिद्धान्तों की सत्यता सिद्ध की।[9] मण्डन मिश्र।680-750ई0। ने

---

1. अल्तेकर, पूर्वोक्त, पृ0 118.
2. बुद्ध प्रकाश : पूर्वोक्त, पृ0 93.
3. वहीं.
4. डा0 राधाकृष्णन: इण्डियन फिलोसफी, वा0।।, पृ0।8।.
5. वहीं.
6. वहीं.
7 सचाऊ जिल्द । पृ0 132.

विधि विवेक, भावना विवेक, विभ्रम विवेक और मीमांसानुक्रमणी ग्रन्थ लिखे।[1] वाचस्पति मिश्र {850ई0} ने "तत्व बिन्दु" लिखा।[2] उम्बेक भट्ट {670-750ई0} और पार्थसारथि मिश्र {1050-1120ई0} ने कुमारिल भट्ट के ग्रन्थों पर टीकाएं लिखी।[3] विवेच्य काल में शंकराचार्य ने वेदान्त दर्शन को चरमोत्कर्ष पर पहुंचा दिया था। शंकराचार्य {788-820ई0} ने ब्रम्हसूत्र, भगवद्गीता और प्राचीन उप=निषदों पर भाष्य लिखे। शंकराचार्य के अनुयायियों ने पद्मपादाचार्य ने "पंचपादिका, वाचस्पत्ति मिश्र {9वीं सदी} ने "भामती". सुरेश्वराचार्य {800ई0} ने "नैष्कर्म्यसिद्धि "वृहदारण्यकोपनिषद भाष्यवार्तिक, और तैत्तरीयवार्तिक" सर्वज्ञात्म मुनि {9वींसदी} ने "संक्षेपशारीरक" टीकाएं लिखी थी।[4] दर्शन के पाठ्य क्रम में सम्पूर्ण तत्व ज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन सम्मिलित था।[5] शंकराचार्य तथा गौड़पाद जैसे हिन्दू दार्शनिक अपने विरोधी दर्शनों में भी पूर्ण पंडित थे।[6]

आलोच्यकालीन दार्शनिक विचार धाराओं का चर्मोत्कर्ष तद्युगीन भारतीय समाज की दार्शनिक दृष्टिकोण की ओर इंगित करता है।

आवश्यकता अविष्कार की जननी होती है। सदृश्य या अदृश्य भावी घटनाएं मानव के जिज्ञासा का केन्द्र बिन्दु रही है। तद्युगीन ऐतिहासिक साक्ष्यों से ज्योतिष विद्या के अध्ययन का प्रमाण प्राप्त होता है। अल्तेकर के अनुसार इस काल की रचनात्मक प्रतिभा की सूचना काव्यों, कुछ साहित्य

---

1. डा0 देवराज : भारतीय दर्शन, पृ0 440.
2. वहीं.
3. वही.
4. वहीं, पृ0 510.
5. अल्तेकर :पूर्वोक्त, पृ0 118.
6. हर्ष चरित, अध्याय 8.

और ज्योतिष में भी मिलती है। भारतीय ज्योतिष विज्ञान की उत्कृष्टता की प्रशंसा अनेक यूरोपीय विद्वानों ने भी की है जिनमे वेबर का मत उल्लेखनीय है।[2] द्वाश्रय से विदित होता है कि चालुक्य राजा जय सिंह ने ज्योतिष के अध्ययनार्थ एक शिक्षा संस्था का निर्माण करवाया था ।[3] खगोल शास्त्री भास्कराचार्य की कृतियों के निमित्त खानदेश के प्रधानों ने एक शिक्षालय की स्थापना की थी।[4]

गहड़वाल दान पत्रों में एक नये अधिकारी "नैमित्तक" का नामोल्लेख है जो फलित ज्योतिष का ज्ञाता होता था ।[5] आमोद अभिलेख में पंडित राघव को ज्योतिष विद् कहा गया है।[6] बंगाल से प्राप्त अभिलेख में दामोदर श्रमण को ज्योतिष के पांच सिद्धान्तों -पौलिश रोमक, वशिष्ट, सौर, पितामह का ज्ञाता कहा गया है।[7] ज्योतिष पर भोज (1050ई0) ने "राज मृगांक" ग्रन्थ लिखा । इन्ही के समकालीन लेखक शतानन्द ने "भास्वती" तथा ब्रम्हदेव ने "करण प्रकाश" नामक ग्रन्थ लिखा।[8] भास्कराचार्य (1150ई0) ने सिद्धान्त शिरोमणि, करण कुतुहल, करण केसरी, ग्रह गणित, ग्रहलाघव, ज्ञान भास्कर, सूर्य सिद्धान्त व्याख्या और भास्कर दीक्षितीय, ज्योतिष एवं खगोल विद्या से सम्बन्धित ग्रन्थों का प्रणयन किया।[9] श्री पति (1039ई0) ने भी इस सम्बन्ध में "रत्नमाला" और

----

1. अल्तेकर: पूर्वोक्त, पृ0 181.
2. हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, पृ0 255.
3. द्वाश्रय, 15.
4. जरनल आफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड, लन्दन, भाग-1, पृ0 414,
5. वासुदेव उपाध्याय: पूर्वोक्त, पृ0 127. पर उद्धृत ए0इ0. जिल्द4, पृ0122-131, जिल्द 8. पृ0 90
6. सी0आई0आई0, जिल्द 4, भाग-2, पृ0533,
7. ए0इ0, जिल्द-8. पृ0 156.
8. वासुदेव उपाध्याय: पूर्व मध्यकालीन भारत, पृ0 277.
9. रोमेश चन्द्र दत्त : लेटर हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ0 107.

17

जातक पद्धति नामक ग्रन्थो की रचना की ।[1]

अध्ययन काल के पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों वाराह मिहिर (छठी सदी) और ब्रम्हगुप्त (लगभग 628ई0) के ज्योतिष ग्रन्थो पर तद्युगीन लेखको ने अनेक टीकाएं लिखी जिसका समर्थन अल्बेरूनी भी करता है।[2] भट्टोत्पल ने वाराह-मिहिर के बृहत्संहिता यात्राग्रन्थ, लघु जातक, बृहज्जातक एवं होराषट् पंचा-शिका" की टीकाएं लिखी थी।[3] वह होराशास्त्र तथा प्रश्न ज्ञान का लेखक भी था।[4] 908ई0 के लगभग "चतुर्वेद पृथूदक स्वामी" ने ब्रम्हगुप्त के "ब्रम्हस्फुट सिद्धान्त की टीका लिखी थी।[5] 1038ई0 के लगभग श्रपति ने "सिद्धान्त शेखर एवं धीकोटिद और वरूण ने ब्रम्हगुप्त के "खण्ड खाद्यकरण" पर टीका लिखी।[6]

ज्योतिष का तद्युगीन समाज में कितना महत्व था इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि राज दरबारों में भी ज्योतिषी रखे जाते थे।[7] पंचांगो का निर्माण और भविष्य कथन के लिए ज्योतिष का उपयोग समाज का एक अभिन्न अंग बनगया था ।

गणित, फलित ज्योतिष एवं गणित ज्योतिष ये तीनो विज्ञान एक दूसरे से सम्बद्ध थे।[8] पश्चिमी विद्वान मोनियर विलियम्स कहते है कि बीजगणित, ज्यामिति एवं खगोल में उनका प्रयोग भारतीयो ने आविष्कृत किया है।[9]

----

1. वासुदेव उपाध्याय: पूर्वमध्य कालीन भारत, पृ0 279.

2. सचाऊ, भाग-1, पृ0 156.

3. ब्रजनारायण शर्मा : सोसल लाइफ इन नार्दर्न इण्डिया, पृ0 109.

4. वहीं, पृ0 109-110

5. वासुदेव उपाध्याय: पूर्व मध्य कालीन भारत, पृ0 277.

6. वहीं, पृ0 277.

7. अल्तेकर, प्रा0भा0 शि0 पद्धति, पृ0 117.

8. सचाऊ, भाग-1, पृ0 152-53.

9. इण्डियन विजडम, पृ0 185.

काजोरी ने "हिस्ट्री आफ मैथमैटिक्स में लिखा है- यह ध्यान देने योग्य बात है कि भारतीय गणित ने हमारे वर्तमान विज्ञान में किस हद तक प्रवेश किया है। वर्तमान बीजगणित और अंकगणित दोनों के भाव भारतीय है यूनानी नहीं। गणित के उन सम्पूर्ण शुद्ध चिन्हो, भारतीय गणित की उन क्रियाओं की तरह सम्पूर्ण है और उनके बीजगणित के विधियो पर विचार करो और फिर चिन्तन करो, कि गंगा के किनारे रहने वाले विद्वान ब्राम्हण किस श्रेय के भागी नहीं है।[1]

विवेच्य युगीन गणित के विद्वानो में महावीर (850ई0), श्रीधर (853ई0), उत्पल (970ई0) और भास्कराचार्य (1150ई0) प्रमुख थे।[2] अंक क्रम का विकास भारतीय गणितज्ञो की गणित के क्षेत्र में महत्वपूर्ण उपलब्धि है[3] शून्य का आविष्कार भारतीयो की तीक्ष्ण बुद्धि की अद्वितीय देन है।[4] "एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका" में, अंकविद्या के विषय में लिखा है-इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारे (अंग्रेजी) वर्तमान अंकक्रम की उत्पत्ति भारतीय है। मार्गन के[5] अनुसार भारतीय गणित यूनानी गणित से उच्च कोटिका का है। भारतीय गणित वह है जिसे हम आज प्रयुक्त करते है। काजोरी के अनुसार बीजगणित के प्रथम यूनानी विद्वान डायोफैन्ट ने भी भारत से ही इस सम्बन्ध में सर्व प्रथम ज्ञान प्राप्त किया।[6] प्रख्यात गणितज्ञ भास्कराचार्य ने अपने ग्रन्थ सिद्धान्त शिरोमणि में बीजगणित, गोलमीति एवं त्रिकोणमिति का उल्लेख किया है।[7] अध्ययन काल के पूर्ववर्ती गणितज्ञो, वाराहमिहिर एवं आर्यभट्ट के ग्रन्थो में भी गणित के सभी

---

1. गौरीशंकर हीरा चन्द ओझा: मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ0 91-92.
2. वहीं,
3. वासुदेव उपाध्याय: पूर्व मध्य कालीन भारत, पृ0 279.
4. वही, पृ0 279-80.
5. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा: मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ0 93.
6. वासुदेव उपाध्याय: पूर्व मध्य कालीन भारत, पृ0 280.
7. आर0सी0 दत्त : पूर्वोक्त, पृ0 107.

उच्च सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है[1] जो विवेच्य युग में परम्परान्तर्गत शिक्षा का विषय था।अल्बेरूनी से भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है।[2]

इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होते है कि सर्वप्रथम भारतीय अंकगणित[3], बीजगणित[4] और रेखागणित[5] अरबों के माध्यम से यूरोप पहुँचा।[6]

इस प्रकार उपरोक्त तथ्यों से विवेच्य युगीन समाज में गणित विषय के अध्ययन के साथ ही साथ यह स्पष्ट होता है कि भारत आधुनिक गणित का जनक है।

हमारे अध्ययनकाल में भारतीय भूगोल तथा ग्रहमण्डल सम्बन्धी गात-शास्त्र से भी परिचित थे।स्थिति शास्त्र।स्टैटिक्स।,तथा गतिशास्त्र।-डायनामिक्स। से भी उनके परिचित होने के प्रमाण प्राप्त होते है।[7]

प्राचीन भारतीय शिक्षा के अन्तर्गत विषयों की विविधता को देखते हुए कहा जा सकता है कि भारतीय चिन्तकों एवं मनीषियों का भौतिक विषयों के प्रति यथेष्ट वैज्ञानिक दृष्टिकोण था।भारत में कामशास्त्र का अध्ययन प्राचीन काल से चला आ रहा है।वात्स्यायन का कामसूत्र इस विषय का अद्वितीय मौलिक ग्रन्थ है।हमारे अध्ययन काल में इस विषय पर अनेक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ।कर्नाटक के नृपति नरसिंह के समवर्ती ज्योतिरीश्वर ने "पंचसायक" लिखा।[8] "नागार्जुन" नाम से रतिशास्त्र नामक पुस्तक प्रसिद्ध है।[9]वीसलदेव।1243 से 69ई0।के राज्यकाल में यशोधरा ने कामसूत्र के

---

1. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा: पूर्वोक्त,पृ0 99.
2. अल्बेरूनीज,इण्डिया,भाग-1,पृ0 159.
3. गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा : पूर्वोक्त,पृ0 98.
4. डा0विनय कुमार सरकार : हिन्दू एचीवमेंट्स इन एक्जेक्ट साईन्सेज, -पृ012-15.
5. वहीं, पृ0 16-19.
6. आर0सी0दत्त: पूर्वोक्त,पृ0 108.
7. डा0विनय कुमार सरकार;पूर्वोक्त,पृ0 22-27.
8. वासुदेव उपाध्याय: पूर्व मध्य कालीन भारत,पृ0 267-68.

रहस्यों को समझाने वाली "जयमंगला" नामक टीका लिखी।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि तद्युगीन समाजदृष्टा शारीरिक आमोद-प्रमोद और सृष्टि संरचना के प्रति जागरूक था।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि तद्युगीन समाज में हिन्दू शिक्षा में विविध विद्याओं का अध्ययन-अध्यापन एवं ग्रन्थों का प्रणयन होता था। इस तथ्य की पुष्टि अल्बेरूनी से भी होती है। उसके अनुसार--"विज्ञान एवं साहित्य की अनेक शाखाओं का विस्तार हिन्दू करते हैं तथा उनका साहित्य सामान्यतः अपरिसीम है। इस प्रकार मैं अपने ज्ञान के अनुसार उनके साहित्य को न समझ सका।"[2]

2. बौद्ध एवं जैन शिक्षा के विषय

बौद्ध शिक्षा के अन्तर्गत लौकिक तथा लोकोत्तर ज्ञान सम्बन्धी विषयों की शिक्षा दी जाती थी। विक्रमशिला बौद्ध विहार में राजा महिपाल के समकालीन आचार्य आनन्द गर्भ ने पांच विद्याओं का अध्ययन किया था।[3] "पंचविद्या"[4] के अन्तर्गत शब्द विद्या (व्याकरण), शिल्प स्थान विद्या, चिकित्सा विद्या, हेतु और अध्यात्म विद्या आते हैं। इत्सिंग के अनुसार गद्य, पद्य, तर्कशास्त्र, अभिधर्मकोश, न्यायशास्त्र, जातकमाला आदि के अध्यापन की व्यवस्था थी।[5] जो विद्यार्थी संस्कृत साहित्य, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद और राजनीति का विशेषाध्ययन करते थे, उनका पाठ्यक्रम वही था जो हिन्दू

---

1. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा: पूर्वोक्त, पृ० 111.
2. अल्बेरूनीज इण्डिया: भाग-1, पृ० 159. जयशंकर मिश्र: ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० 172.
3. तारानाथ, पृ० 121.
4. ए रिकार्ड आफ बुद्धिस्ट रिलीजन, ट्रैवेल्स आफ इत्सिंग, पृ० 169. पाद-टिप्पणी क्र-1.
5. इत्सिंग, पृ० 176.

शिक्षालयों के विद्यार्थियों का होता था।[1] जो विद्यार्थी दर्शन एवं न्याय का अध्ययन करना चाहते थे उन्हें हेतु विद्या, अभिधर्म शास्त्र या न्यायानुसार शास्त्र आदि चुनेहुये बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन करना पड़ता था। हिन्दू नौष्ठिक ब्रम्हचारी की भांति बौद्ध भिक्षु भी आजीवन ब्रम्हचारी रहता था।[2] इत्सिंग के अनुसार प्रत्येक भिक्षु को शीला के पन्द्रह नीति वचनों को सुनने के पश्चात "मातृकेला" के दो भजन सिखाए जाते थे, चाहे वे हीनयान या महायान शाखा के विद्यालय से सम्बद्ध हो[3]। अश्वघोष के "बुद्ध चरित" का भी अनिवार्य रूप से अध्ययन किया जाता था।[4] नालन्दा, बौद्ध धर्म के महायान शाखा के अध्ययन का प्रमुख केन्द्र था, फिर भी वहां शब्द विद्या, हेतु विद्या, चिकित्सा विद्या, तंत्र विद्या, सांख्यिकी और वेदों की शिक्षा दिये जाने के वर्णन प्राप्त होते है।[5] हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी, त्रिपिटकों और बौद्ध धर्म की प्राचीन पुस्तकों में विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करते थे।[6] ह्वेनसांग के अनुसार बौद्ध शिक्षालयों में ब्राहमण सम्प्रदाय के दर्शन और धर्म ग्रन्थों के अतिरिक्त पाणिनी के व्याकरण की भी शिक्षा दी जाती

---

1. अल्तेकर : पूर्वोक्त, पृ0 118-119.
2. वही.
3. ताकाकुसु, पृ0 156-57, ब्रजनारायण शर्मा: सोसल लाइफ इन नार्दर्न इण्डिया, पृ080, द जरनल आफ द युनाइटेड प्राविन्सेज हिस्टारिकल सोसाइटी, जिल्द 3, भाग-1, पृ0 105, 1923.
4. ताकाकुसु, पृ0 186, द जरनल आफ द युनाइटेड प्राविंसेज हिस्टारिकल सोसाइटी जिल्द 3, भाग-1, पृ0 105, 1923.
5. ताकाकुसु, पृ0 186-87, सुरेन्द्र नाथ सेन, इण्डिया थ्रु चाइनीज आइज, पृ0130-पर उद्धृत.
6. अल्तेकर: पूर्वोक्त, पृ0 119.

थी,ऐसी स्थिति में कुछ बौद्ध विद्यालय बौद्ध भिक्षुओं के अतिरिक्त अन्य मतावलम्बियों के लिए भी उपयोगी हो गये।[1] नालन्दा विश्वविद्यालय में वेद, वेदान्त और सांख्य दर्शन की शिक्षा दी जाती थी ।[2]

दार्शनिक क्षेत्र में अनेक बौद्ध विद्वानों जिन्होंने योग्यतापूर्वक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया उनमें कमल शील का नाम उल्लेखनीय है।[3] कल्याणरक्षित के शिष्य धर्मोत्तराचार्य के ग्रन्थ भी दर्शन के क्षेत्र में उल्लेखनीय है।[4] बौद्ध दर्शन के महायान शाखा के आचार्यों धर्मपाल[5] धर्मकीर्ति[6] और विनीत देव[7] ने इसके विकास में सर्वाधिक योगदान दिया।शान्तरक्षित ने तत्त्व संग्रह,वाद न्याय वृत्ति और विनिश्चतार्थ कीरचना की थी।[8] धर्मोत्तराचार्य के "क्षणभंगसिद्धि" की टीका मुक्ताकुम्भ के द्वारा दसवीं शताब्दी में की गयी थी।[9] धर्मकीर्ति के हेतुबिन्दु की टीका जो 10वीं शताब्दी में अर्कट के द्वारा लिखी गयी।[10] 900ई0 में अशोक ने दो तर्कसंगत कृतियों "अवयवी निराकरण" और "सामान्य दूषनदिक् प्रकाशिका" कीरचना की थी।[11] प्रभाकर गुप्त महीपाल केसमकालीन धर्मकीर्ति के प्रमाण वार्तिक की टीका प्रमाण वार्तिकलंकार के और सहावलम्भनिश्चाय के लेखक थे।दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में आचार्य जेतारि[12] रत्नकीर्ति[13]

---

1. वाटर्स : भाग 1,पृ0 319, भाग-2,पृ0 100,108.

2. आर0आर0दिवाकर : बिहार थ्रो दएजेज,पृ0 345,

3. विद्याभूषण : इण्डियन लाजिक,पृ0 32728.

4. एज आफ इम्पिरियल कन्नौज,पृ0 329-31.

5. विद्याभूषण -इण्डियन लाजिक,पृ0 302-303.

6. वहीं,पृ0 303.

7. वहीं,पृ0 320,322,वहीं पृ0,319,323.

8. कृष्णनारायण शर्मा:सोशल लाइफ इन नार्दन इण्डिया,पृ0 102.

9. विद्याभूषण शर्मा:इण्डियन लाजिक,पृ0 331.

10 वहीं,पृ0 332.

11. वहीं,पृ0 323.

12. वहीं,पृ0 337.

और रत्नवज्र[1] के नाम उल्लेखनीय है। आचार्य दिवाकर सेन[2] बौद्ध, जैन और हिन्दू दर्शनों की साथ-साथ शिक्षा देते थे। बौद्ध आचार्यों का तीर्थंकरों से विवाद कभी-कभी दस दिन से अधिक समय तक भी चलता था।[3] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि विवेच्ययुग में सभी सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन होता था।

ह्वेनसांग ने, बौद्ध विहारों में वाद विवाद एवं तर्क-वितर्क द्वारा, विषय के कठिनता पूर्ण समाधान किये जाने का उल्लेख किया है। जिसके द्वारा व्यक्ति की कुशल ज्ञान शक्ति का मापन होता था।[4] इत्सिंग के अनुसार राज दरबारों में आयोजित वाद-विवाद प्रतियोगिता में आमंत्रित प्रतिभाओं का चुनाव होता था।[5] ऐसे विद्वानों के यश की ध्वनि भारत के पांचों पर्वतों से लेकर चारों कोनों तक व्याप्त हो गयी थी।[6] ऐसे व्यक्तियों को राजाओं द्वारा पुरस्कार स्वरूप भूमिदान, उच्चस्तर, उच्च उपाधि अथवा महल के मुख्य द्वार पर सुन्दर अक्षरों में उनका नाम लिखकर सम्मानित करने का प्रचलन था।[7] ह्वेनसांग के अनुसार विनय अभिधर्म एवं सूत्र में से एक शाखा को आत्मसात् करने वाला व्यक्ति "प्रमुख" दो शाखाओं में प्रवीणता प्राप्त करने वाला व्यक्ति "श्रेष्ठ" तीन शाखाओं की व्याख्या करने वाला अपना एक सहायक पाने योग्य समझा जाता था, चार शाखाओं के व्याख्यता को सेवक प्रदान किये जाते थे, पांच शाखाओं, में पारंगत एक हाथी पर चढ़ाया

----

1. विद्या भूषण: इण्डियन लाजिक, पृ0 339-40.
2. अल्तेकर, पूर्वोक्त, पृ0 118.
3. वाटर्स, ह्वेनसांग, भाग-1, पृ0 159.
4. वही, पृ0, 162.
5. इत्सिंग, पृ0 177.
6. वही, पृ0 178.
7. वाटर्स, भाग-2, पृ0 165,

जाता था और छः शाखाओं में पारंगत व्यक्ति हाथी पर चढ़ाए जाने के साथ ही साथ अनुचर वर्ग की प्राप्ति भी करता था ।[1] इस प्रकार विभिन्न अध्ययन विषयों पर वाद-विवाद द्वारा प्रतिभा खोज एवं विद्वानों को सम्मानित किया जाना तद्युगीन समाज में ज्ञान के समादर का सूचक है।

विवेच्य युग में बौद्ध विहारों में एक अध्ययन विषय तंत्र भी था।[2] विक्रमशिला विश्वविद्यालय तन्त्रवाद का महत्वपूर्ण केन्द्र माना जाता था। तारानाथ ने निम्न लिखित बारह तांत्रिकों का नामोल्लेख किया है,यथा[3] 1,दीपंकर भद्र 2.ज्ञानपाद 3.लंकाजय भद्र 4.श्रयकीर्ति 5.भव भद्र6.लीलावज्र 7.श्रीधर 8.दुर्जय चन्द्र 9.समय वज्र 10.तथागत रक्षित 11.बोधि भद्र 12-कमल रक्षित । अल्तेकर[4]के अनुसार विक्रमशिला मुख्य रूप से व्याकरण,न्याय, तत्वज्ञान,तंत्र तथा कर्मकाण्ड के अध्ययन के लिए प्रसिद्ध था ।नालन्दा अन्तर्राष्ट्रीय बौद्ध विहार[5] के विद्वानों द्वारा तंत्र कृतियों कीरचना,उनका अध्ययन, प्रतिलिपि तैयार करने एवं उत्तर की भाषाओं में अनुवाद करने का कार्य किया जाता था ।

1.वाटर्स,भाग-1,पृ0 162.

2.इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली,जिल्द 28,पृ0 10,मार्च 1952,

3.तारानाथ,पृ0 3.

4.अल्तेकर :पूर्वोक्त,पृ0 99.

5.इ0हि0क्वा0,जिल्द 28,पृ0 31,मार्च 1952.

विवेच्य युग में बौद्ध शिक्षा विहारों में व्याकरण विषय के सांगोपांग अध्ययन का उल्लेख होता था। व्याकरण के अध्ययन [1] को लेकर छः वर्ष की अवस्था से 20वर्ष की अवस्था तक एक क्रमबद्ध व्यवस्था का प्रमाण प्राप्त होता है। पाणिनी के सूत्रों[2] पर आधारित समीक्षात्म पुस्तक "वृत्तिसूत्र" का अध्ययन होता था। व्याकरण में विशिष्टता प्राप्त करने एवं अग्रवर्ती अध्ययन के लिए प्रमुख ग्रन्थों में पाणिनी के सूत्रों पर पतंजलि का महाभाष्य,[3] भर्तृहरि[4]- शास्त्र जो सम्पूर्ण में प्रसिद्ध थी के अलावा भर्तृहरि. की कृति "वाक्यपदीय"[5] और पेई-ना[6] सम्भवत:वेद जिसे उसने अपने समकालीन नृपति धर्मपाल को समर्पित किया था। का अध्ययन किया जाता था। व्याकरण के इस अंग्रवर्ती पाठ्यक्रम में प्रवीणता प्राप्त कर लेने के पश्चात् छात्र "बहुश्रुत" की उपाधि प्राप्त करते थे।[7] व्याकरण में विशिष्टता का पद पाठ्यक्रम पुरोहित तथा सामान्य दोनों के लिए ही था।[8]

---

1. ताकाकुसु, पृ० 172,75, द जरनल आफ द युनाइटेडप्राविन्सेज हिस्टारिकल सोसाइटी, जिल्द 3, भाग-1, पृ० 101, 1923, प्राजेक्शन आफ द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, पृ० 128, 1941, ब्रज नारायण शर्मा, सोसल लाइफ इन नार्दर्न इण्डिया, पृ० 78. डा०सुरेन्द्र नाथ सेन, इण्डियाथ्रु द चाइनीज आइज, पृ०1.
2. वहीं.
3. इत्सिंग, पृ० 178. आर०के०मुखर्जी, पूर्वोक्त, पृ० 539,40, द जरनल आफ द-युनाइटेड प्रोविन्सेज हिस्टोरिकल सोसाइटी, वाल्यूम III, पार्ट1, पृ०102.
4. इत्सिंग, पृ० 180, द जरनल आफ द युनाइटेड प्रोविन्सेज हिस्टारिकल, सोसाइटी, वाल्यूमIII, पार्ट-1, पृ०102, 1923, आर०के०मुखर्जी पूर्वोक्त, पृ० 540.
5. इत्सिंग, पृ०180, आर०के०मुखर्जी, पूर्वोक्त पृ० 540.
6. आर०के०मुखर्जी, पूर्वोक्त, पृ० 540,
7. वहीं, इत्सिंग, पृ० 180,
8. वहीं,

नालन्दा विश्वविद्यालय में ह्वेनसांग जब योग शास्त्र के विद्यार्थी था, उस समय शील भद्र योग शास्त्र के सर्वोच्च विद्वान थे।[1] योगाचार्य शास्त्र मे दक्षता प्राप्त करने के लिए बौद्धों को आठ शास्त्रों, यथा-विद्यामातृविंशति-।गाथा शास्त्र अथवा विद्या मातृसिद्धि, विद्यामातृसिद्धि त्रिदास शास्त्र-कारिका, महायान सम्परिग्रहशास्त्र मूल, अभिधर्म ।संगति शास्त्र।, मध्यान्त विभाग शास्त्र, निदान शास्त्र, सूत्रालंकार टीका, कर्मसिद्धि शास्त्र का अध्ययन आवश्यक था।[2] बौद्ध तर्कशास्त्र में प्रवीणता प्राप्त करने के लिए भी आठ आगामों मे दक्षता प्राप्त करना आवश्यक था।[3] उपर्युक्त विवरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि अध्ययन विषय की दोनो विधियों मौखिक और लिखित रूपों में ओजास्विता लाने के लिए बौद्ध शिक्षा में व्याकरण का विशिष्ट महत्व था।

अस्तित्व एवं संसार की नश्वरता के सिद्धान्तों को जानने के लिए विनय, अभिधर्म तथा सूत्र का विस्तृत अध्ययन आवश्यक था।[4] कोई भी भिक्षु जिसने उपरोक्त तीनों मे से एक का भी अध्ययन किया हो, विहार में विशेष सम्मानित होता था।[5] भिक्षुओं[6] को पाली तथा संस्कृत में नैपुण्यता प्राप्ति के पश्चात् बौद्ध धर्म और दर्शन का गहन अध्ययन करना पड़ता था। तत्पश्चात् वे हिन्दू धर्म और दर्शन का सावधानी पूर्वक अध्ययन करते थे। बौद्ध विहारों ने भिक्षुओं की शिक्षा की विशेष व्यवस्था थी। उनका प्रशिक्षण विशेष प्रकार से होता था। प्रशिक्षण का वह समय "निस्सय" कहलाता था। निस्सय का समय पांच

---

1. आर०के०मुकर्जी, ऐंन्शियन्ट इण्डियन एजूकेशन पृ० 566, ताक्कुसु पृ०107,
2, ताकाकुसु, पृ० 186.
3. वहीं, द जरनल आफ द युनाइटेड प्राविंसेज हिस्टारिकल सोसाइटी, जिल्द-3. भाग-1, पृ० 105. 1923.
4-ताकाकुसु, पृ० 184, ब्रजनारायण शर्मा, सोसल लाइफ इन नार्दर्न इण्डिया, पृ०81.
5. वहीं, पृ० 64, ब्रजनारायण शर्मा: वहीं, पृ० 81,
6. बील, भाग-2 पृ० 170-71.

वर्ष से दस वर्ष तक होता था।[1] विहारो में पौरोहित्य कर्म में रूचि रखने वाले के लिये विनय के नियमो एवं सूत्रों का सम्यक ज्ञान आवश्यक था।[2] क्यो कि नीतिवचन (सुभाषित) विनय के नियमो के अनुसार ही थे, और विनय त्रिपिटक के एक अंग के रूप में था।[3] त्रिपिटक के दो अन्य अंग अभिधर्म और सूत्र थे।[4] सर्वास्तिवाद की तत्व मीमांसा पर छः विभिन्न ग्रन्थो का अध्ययन आवश्यक था।[5] सूत्र तथा आगमो के अध्ययन के समय चार निकायो के सिद्धान्तो के खोज की आशा की जाती थी। ये आगम थे दीर्घागम, मध्यमागम, संयुक्तागम् तथा एकोत्तरागम।[6] ह्वेनसांग ने "तोषासन" विहार में अभिधर्म की शिक्षा चौदह मास तक ग्रहण करने केउपरान्त "नगरधन" के वहार में चार मास तक अध्ययन किया।[7] उसने कन्नौज केविहार में बुद्धदास कृत विभाषा का अध्ययन किया था।[8] वह स्रुघ्न के विहार मे सौत्रान्तिक शाखा की सभी विभाषाओ का अध्ययन किया।[9]

इत्सिंग के अनुसार शारीरिक शिक्षा के अन्तर्गत शारीरिक व्यायाम एवं टहलने का प्रचलन था।[10]

विवेच्य युग में बौद्ध महाविहारो में कला एवं शिल्पकला की भी शिक्षा दी जाती थी। नालन्दा विश्वविद्यालय कलात्मक विद्याओ की शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। यहां की कला पर जावा की कला का प्रभाव था।[11] तकनीकी

---

1. दुट, एस0-बुद्धिस्ट मांक्स एण्ड मोनेस्टरीज आफ इण्डिया, पृ0 93.
2. ताकाकुसु, पृ0 181, द जरनल आफ द युनाइटेड प्रोविन्सेज हिस्टारिकल सोसाइटी, जिल्द 3, भाग 1, पृ0 105, 1923.
3. ब्रज नारायण शर्मा: सोसल लाइफ इन नार्दर्न इण्डिया, पृ0 80-81.
4. वही, पृ0 81.
5. ताकाकुसु, पृ0 187.
6. वहीं,
7. डा0 रामजी उपाध्याय: प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ0 151.
8. वही.
9. वही.
10. इत्सिंग, पृ0 114.
11. ट्रांजेक्शन आफ द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, पृ0 129-134, 1941.

[यांत्रिक] शिल्प कलाओं का प्रशिक्षण वंशानुगत तथा पारिवारिक होने के प्रमाण प्राप्त होते है।[1] जातकों के वर्णन से भी ज्ञात होता है कि अधिकांश छात्र शिल्प [कलाओं] अथवा शास्त्रों को वे अध्ययन के लिए चुनते थे।[2]

हमारे अध्ययन काल [700ई0 से 1200ई0] में बौद्ध शिक्षालयों मे चिकित्सा विज्ञान के अध्ययन का महत्व पूर्ण स्थान प्राप्त था। इत्सिंग के अनुसार आयुर्वेद के पाठ्यक्रम के आठ विभाग थे- [1] अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी ब्रण की चिकित्सा [2] उध्वांग चिकित्सा [3] शारीरिक रोग [4] अधिदैविक रोग [5] विष-चिकित्सा [6] कौमार भृत्य [7] काया कल्प [8] अंगो को सशक्त बनाना। आयुर्वेद का अध्ययन सभी छात्रों के लिए अनिवार्य था।[3] इत्सिंग ने चिकित्सा विज्ञान की अनिवार्यता के कारणों का भी वर्णन किया है।[4] उसके अनुसार अस्वस्थता किसी भी व्यक्ति के कर्त्तव्य निर्वाह में बाधा डालती है वह आगे चिकित्सा शास्त्र के अध्ययन से एक दूसरे के लाभान्वित होने की बात करता है।[5] इत्सिंग ने स्वयं चिकित्सा विज्ञान का गहन अध्ययन किया था।[6] नालन्दा में आयुर्वेद का अध्ययन अध्यापन होता था। इसके अन्तर्ग रोगो के निदान के लिए शल्य चिकित्सा और औषधियों के प्रयोग के प्रशिक्षण

---

1. द जरनल आफ द विहार रिसर्च सोसाइटी, जिल्द, 46, भाग 1-4 पृ 127. -1970.
2. [जातक, 356, 2. 99, 3. 18, 129, 4. 456.]
3. रेकार्ड आफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, पृ0 170-175.
4. प्रोसीडिंग्स आफ द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, पृ0 129. 1941.
5. वहीं.
6. वहीं.

दिये जाते थे।[1] आयुर्वेद विज्ञान पर चरक एवं सुश्रुत के ग्रन्थ विवेच्य युग में सर्वाधिक प्रसिद्ध थे। बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर चिकित्साशास्त्र के विशेष अध्ययन का अनुमान किया जाता है। इस शास्त्र में विष, व्रण, रोग तथा शल्य चिकित्सा का अध्ययन होता था।[2] पशु चिकित्सा आयुर्वेद का अंग थी।[3] हिन्दू विज्ञान के पुनर्जागरण के समय पौराणिक काल में चिकित्सा से सम्बन्धित अनेक बौद्ध ग्रन्थों को पुनः लिखे जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[4] इस प्रकार वैदेशिक विवरणों से भी तद्युगीन भारतीय शिक्षा में चिकित्सा विज्ञान के विकास एवं ख्याति के प्रमाण मिलते है।

जैन शिक्षा में भी लौकिक एवं पारलौकिक विद्याओं की शिक्षा दी जाती थी। जैन ग्रन्थों में पाठ्यक्रम के अन्तर्गत बहत्तर कलाओं का उल्लेख है।[5] कहीं-कहीं इससे भी अधिक कला विद्याओं की सूची प्राप्त होती है।[6] इनमें लेह (लेखन), गणिय (गणना), पोरेकव्व (काव्य), (कविता), अज्जा (आर्या छन्द), पहेलियां, मागधिया, गाथा, गीय, सिलोय (श्लोक), गुटिका, संगीत, नट्ट (नृत्य), लक्खण (लक्षण विद्या), (खगोल शास्त्र), वत्थुविज्जा, जुद्ध, अट्ठ, धणुव्वेय (धनुर्वेद), वूह (व्यूह) तथा चक्रव्यूह आदि मुख्य है। इस प्रकार विद्याओं की जो सूची प्राप्त होती हैं इनमें अधिकांश विद्याओं का उल्लेख ब्राह्मण एवं बौद्ध साहित्य में नहीं है। इससे भी पूर्व के साहित्य में तो प्राप्त होना असम्भव ही है। जैन ग्रन्थों में प्राप्त कला विद्याओं की सूची वात्स्यायन के कामसूत्र में वर्णित चौंसठ कलाओं

---

1. वाटर्स, भाग-1, पृ0 154.
2. आर0सी0दत्त : पूर्वोक्त, पृ0 112.
3. दीघनिकाय, 1. 9.
4. जातक, 1. 177, 180, 184, 200.
5. नायाधम्म कहा 1. 21, समवायांग, पृ0 77, ओवाइय 40, रायपसेणिय सूत्र-211, जम्बुद्वीपप्रज्ञप्ति टीका, 2. 136।
6. समराइच्चकहा, 8, पृ0 634-35.

से अधिक है। जिससे जैन प्रमाणों के बहुत समय बाद के होने में कोई संदेह नहीं रह जाता। उत्तराध्ययन की टीका[1] में चार वेद, छः वेदांग, मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्म शास्त्र इन चौदह विद्याओं के अध्ययन का उल्लेख है। जैन विद्वान वाद में कुशल थे और इस कुशलता के लिए उन्हें अपने सिद्धान्तों के अतिरिक्त बौद्ध और ब्राम्हण दर्शनों का अध्ययन करना पड़ता। रामायण, महाभारतादि काव्य कालिदास आदि के काव्य एवं नाटक, ज्योतिष काव्यालोचन, गद्य व्याकरण और, छन्द शास्त्र भी उनके अध्ययन के विषय थे। जैन आगमों पर जिनकी संख्या 84 मानी जाती है अनेक टीकाएं हैं।[2]

दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में जैनियों का महत्व पूर्ण योगदान था। 609 ई0 में जिन भद्र दासाश्रमण ने आवश्यक सूत्र की टीका "विशेषावश्यक भाष्य" लिखा था।[3] आठवीं शताब्दी के जैन लेखक हरिभद्र सूरि ने 1.444- कृतियों की रचना की थी।[4] उन्होंने दर्शनशास्त्र के ग्रन्थ, टीकाएं एवं साहित्यिक कृतियां कथा रूप में लिखी थी।[5] सामन्त भद्र ।सातवीं शताब्दी।, हरिभद्र ।आठवीं शताब्दी।, भट्ट अकलंक।आठवीं सदी।, विद्यानन्द।नवीं सदी।, हेमचन्द्र ।ग्यारहवीं सदी। और मल्लिषेण सूरी। 13वीं सदी। के नाम विशेष उल्लेखनीय है। इस प्रकार स्पष्ट है कि विवेच्य युग में भारतीय दर्शन के विकास में जैन विद्वानों का महत्व पूर्ण योगदान था।

----

1. उत्तराध्ययन, 3.56.

2. दशरथ शर्मा: चौहान सम्राट पृथ्वीराज तृतीय और उनका युग पृ0 63.

3. भारतीय विद्या, वाल्यूम III, पृ0 181.

4. विन्टर नित्स, हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, वाल्यूम II, पृ0 480.

5. डा0 ए0एन0ओपेध्ये द्वारा सम्पादित, एस. , जे0जी0एम0 1944ई0में प्रकाशित।

जैन शिक्षा में व्याकरण विषय के अध्ययन का स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होता है। जैन शाकटायन ने नवीं शताब्दी में एक व्याकरण लिखा।[1] प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी तथा अपने समकालीन नृपति सिद्धराज की स्मृति स्थिर रखने के लिए "सिद्ध हेम" नामक व्याकरण लिखा।[2] जैन होने के कारण उसने वैदिक भाषा सम्बन्धी नियमों का वर्णन नहीं किया।[3] खरतरगच्छीय आचार्य बुद्धिसागर ने वृत्तों में "पञ्चग्रन्थी" नाम के व्याकरण की रचना की।[4]

जैनों के अलंकारों के ज्ञान के नमूने जिनपाल रचित सनत्कुमार-चरित, जिनदत्त के उपदेश रसायनादि ग्रन्थ, और खरतरगच्छ पट्टावलि आदि ग्रन्थों में देखे जा सकते है। जिन वल्लभ चित्र काव्यों के ग्रन्थन में चतुर थे। वे खड्गबन्ध, गजबन्ध, गोमूत्रिका आदि बन्धों के भी रचना में निपुण थे। समस्यापूर्ति में वे सिद्धहस्त थे। शार्ङ्गधर पद्धति में दिये उद्धरणों से भी स्पष्ट है कि उस समय का कवि चित्र काव्य का प्रेमी हो चुका था।[5]

इस प्रकार स्पष्ट है कि विवेच्य युग में जैन शिक्षा में भी विविध विषयों का अध्ययन-अध्यापन होता था। जैन, बौद्ध एवं ब्राह्मण साहित्य वैदिक शिक्षा के विषय में एक ही पाठ्यक्रम का उल्लेख करते है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि विवेच्य युग में वैदिक शिक्षा का रूप पूर्ववत् ही था यद्यपि ब्राह्मणेत्तर धर्मों में इसकी अध्ययन की विशेष व्यवस्था नहीं रही होगी।

---

1. गौरीशंकर हीरा चन्द्र ओझा. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति. पृ० 72.
2. वही.
3. वही.
4. दशरथ शर्मा: पूर्वोक्त, पृ० 67.
5. दशरथ शर्मा: पूर्वोक्त, पृ० 67.

3. राजन्य की शिक्षा

ऐतिहासिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में राजन्य की शिक्षा में अनेकानेक विषय सम्मिलित थे। कौटिल्य[1] तथा शुक्र[2] ने आदर्श शासक को परम्परागत चारों विज्ञान तथा दण्डनीति में पारंगत होनेपर विशेष बल दिया है। जैन ग्रन्थों में राजधर्म[3] की शिक्षा में, राजा, मंत्री, उच्चाधिकारी, सेना, युद्ध ग्राम, नगर, देश, पुरुष, स्त्री, योद्धा, चोर, लुटेरों आदि की सभी बातें सम्मिलित थीं।[4] सत्तविज्जा का उल्लेख महाबोधि जातक में आता है जिसका आशय क्षात्र विद्या से ही है।[5]

बाणभट्ट[6] ने राजकुमारों को विभिन्न आयुधों जैसे-धनुष-तलवार,,ढाल और भाला आदि में, तैरना, चढ़ना, कूदना, अश्व विद्या, हस्तिविद्या, रथ विद्या में प्रवीणता प्राप्ति का उल्लेख विभिन्न स्थानों पर किया है।[6] कादम्बरी में राजा शूद्रक[7] को काव्य प्रबन्ध रचना, शास्त्रों के वाद-विवाद और आख्यान आख्यायिका, इतिहास-पुराण का प्रेमी बताया गया है। इसी प्रकार बाण भट्ट ने कादम्बरी में चन्द्रापीड के अध्ययन विषयों का उल्लेख राजन्य शिक्षा का आदर्श उदाहरण है। यथा -"पद, वाक्य, प्रमाण, राजनीति, धर्मशास्त्र, व्यायाम, चाप चक्र, चर्मकृपाण, शक्ति तोमर, परशु गदा आदि अस्त्रों का संचालन, रथ-चालन, गजारोहण, तुरंगारोहण, वीणा, वेणु, मुरज, ज्योतिष, चित्रकला, लक्षणकला,

---

1. अर्थशास्त्र, भाग-1, अध्याय 1.4.
2. शुक्र नीतिसार, भाग-1, 151, 156,
3. कुरुधम्म, उम्मदन्ती, तेसकुण, महासुतसोम तथा विधुर पंडित जातक.
4. दीघनिकाय-चक्कवत्ती-सीहनाद तथा लक्खणसुत्तं, अंगुत्तरनिकाय-राजवग्ग.
5. दीघनिकाय. 1/9.
6. हर्ष चरित, अध्याय, पृ0 76, वही, अध्याय 4, पृ0 138. कादम्बरी, पृ0107. वही. पृ0 12-13.
7. कादम्बरी, कथामुखम्, पृ0 42

ग्रन्थ रचना कला, द्यूत, क्रीणा, रत्नपरीक्षा, पक्षियों की बोली पहचानना, वास्तु विद्या, वैद्यक शास्त्र, यन्त्रों का प्रयोग, विषमूलक औषधि, तुरंग भेद, तैरना, रतिशास्त्र, इन्द्रजाल, नाटक, आख्यायिका, काव्य, महाभारत, पुराण, इतिहास, रामायण, सभी प्रकार की लिपि और सभी देशों की भाषा, शिल्प, छः शास्त्र ।"[1] व्यायाम विद्या के अन्तर्गत राजकुलों में व्यायाम भूमिका पृथक प्रबन्ध एवं प्रशिक्षण महत्वपूर्ण था ।[2]

दशकुमार चरित में दण्डी ने राजवाहन की शिक्षा के बारे में लिखा है कि राजवाहन ने क्रमशः चौल एवं उपनयनादि संस्कारों के पश्चात्, सकल लिपियों, सब देश की भाषाओं का पाण्डित्य छः अंगों के साथ वेदराशि की विद्या काव्य, नाटक, आख्यान-आख्यायिका, इतिहास, चित्रकथा एवं पुराण आदि के नैपुण्य, धर्म शब्द ।व्याकरण।, ज्योतिष, तर्क, मीमांसादि शास्त्र समूह का चातुर्य, कौटील्य और कामन्दकीय नीति का कौशल, वीणादि शास्त्र समूह का चातुर्य, वीणादि वाद्यों में दक्षता, संगीत और साहित्य, मणिमन्त्र और औषधादि से माया प्रपंच में प्रसिद्धि हाथी एवं घोड़े की सवारियों में पटुता, नाना प्रकार के आयुधों में प्रसिद्धि, चोरी एवं जुआ आदि छलमयी कलाओं मे प्रवीणता, को उन आचार्यों से अच्छी तरह प्राप्त किया है।[3] इसी प्रकार नीतिवाक्यामृतम के अनुसार जब राजकुमार बातचीत, काम एवं शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो जायें, तब उसे सब प्रकार की लिपियों, व्याकरण एवं न्याय शास्त्र के व्यावहारिक प्रयोग में नीति शास्त्रों में, रत्नपरीक्षा में, कामशास्त्र, संग्राम विद्या और तरह-तरह की सवारियों की विद्या में भली-भाँति सुशिक्षित करना चाहिए।[4]

---

1. कादम्बरी, पृ० 149.
2. वासुदेव शरण अग्रवाल: कादम्बरी, पृ० 74.
3. दशकुमार चरित, पूर्व पीठिका पृ० 47.
4. नीतिवाक्यामृतम्, द्वितीय अंक, पृ० 154.

भवभूति कृत[1] उत्तरराम चरित में चूड़ाकरण के बाद लव-कुश को वाल्मीकि वेद कि वेद त्रयी ।ऋग्वेद,यजुर्वेद और सामवेद। के अतिरिक्त शेष तीन विद्या ।आन्वीक्षकी,वार्ता,दण्डनीति। की शिक्षा देने का उल्लेख है। दण्डनीति को राजाओं के लिए "कुलविद्या" की संज्ञा दी गयी है और नृत्य,गीत,चित्र और काव्य कला की अपेक्षा अधिक बल दिया गया।[2] कवि माघ ने भी शिशुपाल वध में राजनीति विज्ञान का उल्लेख किया है यथा-तन्त्र।अपने राज्य का -चिन्तन और अपनी शक्ति उत्पन्न करना।, अवाय ।दूसरे के राज्य का चिन्तन और उसकी शक्ति का अपने में अध्यारोप । तथा गुप्त चरादि से अपने और दूसरे के राज्य को वशीभूत करना।[3] नल चम्पू में नल की शिक्षा विद्यायों का उल्लेख है- बौद्ध दर्शन,वैशेषिक दर्शन,सांख्य दर्शन,चार्वाक दर्शन,प्रभाकर।मीमांसा।, छन्द शास्त्र,कल्प शास्त्र,शिक्षा शास्त्र,व्याकरण शास्त्र,ज्योतिष शास्त्र,वेदान्त, सिद्धान्त ज्ञान,वीणावादन,नगाड़ा-वादन,ढाल,पण व वेणुवादन,चित्रविद्या, कामशास्त्र,काष्ठकला,रंजनकला,अश्वविद्या,धनुर्विद्या,द्यूत खेलने में प्रवीणता, गणितविद्या,आद्युद्ध,द्यूत क्रीड़ा,विभिन्न देशों की भाषा,लोक ज्ञान में व्यवहारिकता और रस तथा रसायन।[4] दसवीं शताब्दी के ग्रन्थ"यशस्तिलक" में गज विद्या और अश्व विद्या का उल्लेख किया गया है।[5]

कोनी शिलालेख में रत्नदेव द्वितीय को छत्तीस प्रकार की शास्त्रों की कला से पूर्ण परिचित कहा गया है।[6] मालवा के राजा वाक्पति राजदेव

---

1. उत्तररामचरितम्,द्वितीय अंक,पृ0 154,
2. दशकुमार चरित,अंक8,पृ0 6.
3. शिशुपाल वध,2.88.पृ0 92.
4. नलचम्पू,चतुर्थ उच्छ्वास,पृ0 199.
5. डा0 गोकुल चन्द्र जैन,यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन,पृ0 166.
6. सी0आई0आई0. जिल्द 4,भाग-2, पृ0 471.

को वाक्कला तथा तर्क में निपुण बताया गया है।[1] राजादेवगण काव्यकला में प्रवीण,न्याय में निष्पक्ष,व्याकरण,छन्द,अलंकार एवं साहित्य शास्त्र का ज्ञाता बताया गया है।[2]प्रतिहार राजा को व्याकरण,छन्द,तर्क,एवंज्योतिष शास्त्र का ज्ञाता कहा गया है।[3] अनन्तवर्मा को काव्यकला में निपुण कहा गया है।[4] अल्बेरूनी के अनुसार क्षत्रिय वेदों की शिक्षा ग्रहण करने के अधिकारी थे।[5]राजा भोज और हर्षवर्धन की विद्वता जगत् प्रसिद्ध है।पूर्वीय चालुक्य राजा विनयादित्य गणित का विद्वान था जिससे उसे गुणक कहते थे।विग्रह-राज चतुर्थ का लिखा हुआ "हरि केलि नाटक"आज भी शिलाओं पर खुदा मिलता है।[6] राजकुमार रिपुदारण और नन्दिवर्धन ने सब लिपि,गणित, व्याकरण,ज्योतिष,छन्द,नृत्य पत्रच्छेद,इन्द्रजाल,धनुर्वेद,चिकित्सा, न्याय और नरलक्षणादि का अध्ययन किया था ।[7] अग्नि पुराण तथा वार्हस्पत्य अर्थशास्त्र के अनुसार राजकुमार कामसूत्र का अध्ययन करते थे।[8] धनुर्वेद की शिक्षा विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा करने वाले क्षत्रियों के लिए परमा-वश्यक थी।[9] मानसोल्लास के अनुसार राजकुमारों की शिक्षा पूर्ण होने पर

---

1. ए०इं० जिल्द 1,भाग 13.पृ० 235.वक्तृत्वोच्च कवित्व तर्क कल्पन प्रज्ञात-
   शास्त्रागम्। श्री भ्राजति राजदेव इति.यः सम्दिः सदाकोस्यति ।।
2. वहीं, पृ० 51.
3. वहीं,जिल्द 18,पृ० 96.
   व्याकरण तर्कों ज्योतिष शास्त्रं कलान्वितं ।
   सर्वभाषा कवित्व च विज्ञातं सुविलक्षणम् ।।
4. दश कुमार चरित",अंक 1,पृ० 47,अंक,भा० पृ० 6.
5. अल्बीरूनीज इण्डिया,भाग-2,पृ० 136.ए०इं०जिल्द 20.पृ०126-28.
6. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा.मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पृ० 38.
7. दशरथ शर्मा : पूर्वोक्त,पृ० 68.
8. वी०पी०मजुमदार :सो०इं०हि० आफ नार्द०इं०,पृ० 152 पर उद्धृत वार्हस्पत्य
   अर्थशास्त्र, 2.5.6.
9. वासुदेव उपाध्याय:सोसियो रिलिजियस कंडीशन आफ नार्दर्न इण्डिया

उन्हें गुरुओं को वस्त्र स्वर्ण एवं भूमि ।गांव। प्रदान करना चाहिए।[1]

राजशेखर ने शैक्षणिक विद्याओं की एक लम्बी सूची दी है जिसमें राजनय की शिक्षा का विस्तार से उल्लेख है।[2] राजशेखर कृत "प्रबन्धकोष में शैक्षणिक विद्याओं में अर्थशास्त्र और कामन्दकीय का उल्लेख नहीं है।[3] विज्ञानेश्वर ने धर्मशास्त्र के सम्मुख अर्थशास्त्र की पूर्णतः अवहेलना की।[4] नल चम्पू में अर्थशास्त्र, दण्डनीति अथवा कामन्दकीय का उल्लेख नहीं है।[5] राजधर्म काण्ड के राजपुत्र रक्षा प्रकरण में धर्म, अर्थ, काम से सम्बन्धित सूत्रों, चतुर्वेद व्यायाम, शिल्प की शिक्षा का राजकुमार के लिए निर्देश है परन्तु अर्थशास्त्र का पृथक उल्लेख नहीं है।[6] ब्रम्हचारी काण्ड में यद्यपि लक्ष्मीधर ने भविष्य पुराण को उद्धृत कर अर्थशास्त्र का उल्लेख किया है, परन्तु "अर्थशास्त्र की व्याख्या करते हुए उसे मात्र मनु आदि स्मृतियों में प्रणीत "राजनीति बताया।[7] पृथ्वीराज की शिक्षा के अन्तर्गत उसे चौदह विद्याओं में दक्ष, बहत्तर कलाओं में निपुण और चौरासी प्रकार के विज्ञान का ज्ञाता कहा गया है परन्तु अर्थशास्त्र का उल्लेख नहीं है।[8] डा० यादव का मत है कि पूर्व मध्यकाल के प्रारम्भिक चरणों में अर्थशास्त्र तथा राजनीति शास्त्र के अध्ययन में अवनति हुई।[9] इस युग में लौकिक ।अर्थ-काम। और धार्मिक ।धर्म-मोक्ष। के बीच संतुलन बिगड़ गया था।[10]

---

1. प्रतिपाल भाटिया: दि परमारास, पृ० 196.
2. डा० बी०एन०एस०यादव: पूर्वोक्त, पृ० 400.
3. मिताक्षरा, 2.21, डा० बी०एन०एस०यादव, पूर्वोक्त, पृ० 400.
4. नलचम्पु, चतुर्थ उच्छवास, पृ० 199.
5. कृत्यकल्पतरु, राजधर्म काण्ड, पृ० 99-100.
7. वहीं. ब्रम्हचारी काण्ड, पृ० 43-44.
   "अर्थशास्त्रस्य मन्वादि प्रणीतस्यैव राजनीत्या दे:,
8. पृथ्वीराजरासो. 1.60-64, राजस्थान वि०सं०2012.
9. डा० यादव: सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया, पृ० 400.
10. अल्तेकर, एजुकेशन इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृ० 251. डा०यादव पूर्वोक्त, पृ० 407 पर उद्धृत।

यद्यपि प्राप्त उद्धरणो के आधार पर विवेच्य युग में राजनीति शास्त्र जिसे अर्थशास्त्र या दण्डनीति कहा गया है, की शिक्षा में ह्रास की सूचना मिलती है परन्तु तद्युगीन राजनीति विषयक ग्रन्थो से इस विषय के महत्व का पता चलता है।[1] जैन शाखा के कतिपय साहित्यिक ग्रन्थो में भी शैक्षणिक विषयो के अन्तर्गत अर्थशास्त्रका उल्लेख प्राप्त होता है।[2] राजमार्तण्ड से पता चलता है कि धर्म ,अर्थ, काम, कला, धनुर्वेद व्यायाम के सूत्रो को शिक्षार्थी याद करते थे।[3] खरोड़ शिलालेख में भी बलदेव तृतीय के प्रधान मंत्री गंधर को चाणक्य विद्या में तथा एक अन्य अभिलेख में ब्राम्हण पुरूषोत्तम के चार पुत्र शासन कला में निपुण कहे गये है।[4] कामन्दक ने राजकुमारी के अध्ययन विषयो के भिन्न-भिन्न प्रशाखाओ की तुलना वृक्ष की शाखाओ से किया है।[5] कामन्दक[6] के अनुसार राजा को अपने पुत्र की शिक्षा का उचित प्रबन्ध करना चाहिए, क्यो कि अशिक्षित राजकुमार वंश का नाश कर देता है। अतः शास्त्र, व्यवहार एवं चौसठ कलाओ का ज्ञान आवश्यक बताया गया है।[7] इसके साथ ही परम्परागत विद्या दण्डनीति, त्रयी, वार्ता, आन्वीक्षिकी के अध्ययन का उल्लेख है।[8]

----

1. गौरी शंकर हीरा चन्द्र ओझा: मध्यकालीन भारतीय संस्कृति ,पृ0।13.
2. त्रिशष्टिशलाका पुरूष चरित, पर्व 2, वर्ग 3, पृ0 597 ,प्रबन्ध चिन्तामणि, द्वितीय अध्याय, पृ0 63.
3. राजमार्तण्ड, अध्याय ।।, पृ0 99.
4. सी0आई0आई0, जिल्द 4 भाग-2 पृ0 472.
5. कामन्दकीय नीतिसार, 8. 42,
6. वही, 7. 5.
7. वहीं. 1, 61.
8. वहीं, 2. 9.

इस संदर्भ में दसवीं सदी में सोमदेव सूरिकृत नीतिवाक्यामृतम् एवं कामन्दक नीतिसार उल्लेखनीय है। आलोच्यकाल में राजकुमारो को विशेष प्रकार की शिक्षा दी जाती थी जो उन्हे विद्वान राजनेता बनाने में सहायक होती थी।[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि वेच्य युग (700ई0 से 1200ई0) मे राजन्य की शिक्षा के अन्तर्गत विविध विषयो की सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक शिक्षा दी जाती थी। जिससे ऐसे चरित्र और व्यक्तित्व का निर्माण हो, जो राज्य संचालन में सहायक हो एवं राजा तथा प्रजा दोनो की समृद्धि में योगदान कर सके।

4. व्यावसायिक शिक्षा

विवेच्य युग में व्यावसायिक शिक्षा से सम्बन्धित पर्याप्त ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त होते है जिनसे तद्युगीन सामाजिक मान्यताओ और दृष्टिकोणो का ज्ञान होता है। शिक्षा के संगठन के लिए कला एवं शिल्पकला का व्यवहारिक ज्ञान आवश्यक था।[2] इसके प्रशिक्षण से विद्यार्थी की जन्मजात क्षमताएं एवं रूचियां उभर कर सामने आती थी एवं बालक को उन व्यावसायों को चुनने के लिए दिशा निर्देश मिलते थे जिनके वे योग्य होते थे।[3] आन्ध्र अभिलेखों में अनेक व्यावसायिक संघो का उल्लेख मिलता है-जिससे व्यावसायिक शिक्षा का ज्ञान होता है।[4] व्यवसाय की शिक्षा जीवन की व्यवहारिक और

---

1. प्रतिपाल भाटिया : पूर्वोक्त अध्याय 13.
2. ट्रांजेक्शन आफ द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, पृ0 129. 1941.
3. वही.
4. वेंकटेश्वर, इण्डियन कल्चर थ्रू दि एजेज, भाग 1. पृ0 202.

वास्तविक समस्याओं की पृष्ठ भूमि में ही दी जाती थी।[1] राजतरंगिणी में आचार्य से व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त करने का उल्लेख है।[2] मार्कपोलो के विवरण से ज्ञात होता है कि भारत के पाड्य राज्य में व्यावसायिक शिक्षा व्यावहारिक रूप में दी जाती थी। जब बालक तेरह वर्ष की अवस्था प्राप्त करता था, उसके अभिभावक उसे व्यापार द्वारा जीविकोपार्जन करने के लिए कुछ द्रव्य देते थे।[3] परिवार में किसी अनुभवी के न होने पर बालक को किसी अनुभवी श्रेष्ठी की सेवा में शिक्षा के लिए भेजा जाता था।[4] बारहवीं शताब्दी में कर्नाटक की व्यापारी वर्ग की एक श्रेणी द्वारा एक साहित्य विद्यापीठ चलाने की जानकारी प्राप्त होती है।[5]

हमारे अध्ययनकाल में सैनिक शिक्षा के प्रचुर प्रमाण प्राप्त होते है। सैन्य शिक्षा में प्रवीणता प्राप्त करने के लिए शस्त्र विद्या ब्राम्हण एवं क्षत्रिय दोनो के लिये थी। वसुदत्त, गुण शर्मा एवं श्री दर्शन ब्राम्हण को शस्त्र विद्या में निपुण बताया गया है।[6] श्रीदत्त को अस्त्र विद्या एवं बाहुयुद्ध विद्या में प्रवीण एवं महीपाल को अस्त्र शस्त्र का पूर्ण ज्ञान प्राप्त था।[7] सैनिक वीरवर एवं अशोक दत्त ब्राम्हण थे।[8] दक्षिण के नवी सदी के एक लेख में एक सैनिक शिक्षक को अश्वपरिचालन में अद्भुत प्रतिभा वाला कहा गया है।[9] बाण की कादम्बरी से भी सैनिक शिक्षालय की जानकारी प्राप्त होती है।[10] राज-

---

1. कुमार स्वामी कृत भारतीय शिल्पी, पृ0 83-87.
2. राजतरंगिणी, 2. 12.
3. मजूमदार: दि स्ट्रगल फार दि एम्पायर, पृ0 509.
4. अल्तेकर: पूर्वोक्त, पृ0 149.
5. इ0ऐ0, जिल्द 8. पृ0 195.
6. वाचस्पति द्विवेदी: कथासरित्सागर-एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0170-180, उद्धृत कथासरित्सागर, 12/6/59. वहीं, 8/6/8.
7. वहीं, पृ0180. उद्धृत कथासरित्सागर, 2/2/15, 9/6/9.
8. वहीं. उद्धृत कथासरित्सागर, 12/11/8-12, 5/2/126-27.
9. ए0इ0, जिल्द 13. पृ0 187.
10. कादम्बरी। सम्पा0परशुराम लक्ष्मण वैद्य, पुना1935ई0। पूर्व भाग - पृ0 74-75.

तरंगिणी,[1] कलचुरी एवं चालुक्य वंश के शिलालेख[2] तथा मध्यकालीन शिला-लेखों से[3] सैनिक शिक्षा के प्रमाण प्राप्त होते है। इस प्रकार स्पष्ट है कि विवेच्य युग में सैनिक शिक्षण एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राम्हण एवं क्षत्रिय दोनो को सैन्य शिक्षा दी जाती थी।

विवेच्य युग में आयुर्वेद की शिक्षा उन्नति पर थी। इत्सिंग के अनुसार चिकित्साशास्त्र सभी विद्यार्थी के लिए अनिवार्य था।[4] वह स्वयं चिकित्सा विज्ञान का गहन अध्ययन किया था।[5] इत्सिंग के अनुसार चिकित्साशास्त्र को एक लोक कल्याणकारी विषय माना जाता था।[6] राजशेखर ने कवियो के लिए भी आयुर्वेद का ज्ञान आवश्यक बताया है।[7] गहड़वाल एवं चंदेल अभिलेखो से ज्ञात होता है कि शासक वर्ग राज्य अधिकारी के रूप में वैद्यो का आदर करते थे।[8] कथा सरित्सागर में अनेक वैद्यो का उल्लेख है।[9] आयुर्वेद के दो ग्रन्थ "अष्टांग संग्रह और अष्टांग हृदय सातवी और आठवीं शताब्दी में लिखे गये, जिनके ग्रन्थकार वाग्भट्ट थे।[10] बारहवीं सदी के शार्ङ्गधर ने

---

1. राजतरंगिणी, 8/30, 18, 1071, 1345,
2. ए०इं०, 4-158.
3. पी०वी०काडे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2, पृ० 489.
4. द जरनल आफ द युनाइटेड प्राविंसेज हिस्टारिकल सोसाइटी-जिल्द-3. भाग-1. पृ० 101-102, 1923, ट्रांजेक्सन आफ द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस-पृ० 129, 1941,
5. ट्रांजेक्सन आफ द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, पृ० 129. 1941.
6. वहीं.
7. काव्य मीमांसा, पृ० 6.
8. वासुदेव उपाध्याय: सोसल एण्ड कल्चरल हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया पृ० 132, गुहिलवंशी मेवाड़ के राजा अल्लट की सारणेश्वर प्रशस्ति 953 ई० में भी प्रमुख प्रशासनाधिकारियो के साथ भिषगाधिराज रूद्रादित्य का भी उल्लेख है।-राजस्थान इतिहास के स्रोत, पृ० 62. ए०इं० भाग-4. पृ० 170.
9. कथा सरित्सागर, 7/5/90, 7/8/11, 7/7/46, 3/1/15, 12/18/14.
10. गौरीशंकर हीरा चन्द्र ओझा, पूर्वोक्त, पृ० 103.

शार्ङ्गधर "संहिता लिखी थी। इसमें अफीम तथा पारे के साथ नाड़ी विज्ञान के नियम भी दिये गये है। यह ग्रन्थ आज कल विशेष लोक प्रिय है।[1] 1224ई0 में मिल्हण ने चिकित्सा मृत नामक ग्रंथ लिखा।[2]

ऐतिहासिक साक्ष्यो से ज्ञात होता है कि विवेच्ययुगीन भारतीय चिकित्सा प्रणाली को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त थी। महिला चिकित्सक रूसा के ग्रन्थ का आठवीं सदी में खलीफा हारनन ने अरबी भाषा में अनुवाद कराया था।[3] अरवो की सिंधविजय के पश्चात हिन्दू वैध बगदाद ले जाये गये तथा प्रसिद्ध आयुर्वेद ग्रन्थो का अरबी भाषा मे अनुवाद भी कराया गया था।[4] खलीफा हारून ने भारत में हिन्दू चिकित्सा और औषधि निर्माण पद्धति के अध्ययनार्थ अपने देश से विद्यार्थी भेजे थे।[5] वह 20 भारतीय चिकित्सको को अपने राज्य में चिकित्सालयो के संगठन तथा अरबी में हिन्दू ग्रन्थो के अनुवाद के लिए बगदाद बुलाया था।[6] यह भी ज्ञात होता है कि सुल्तान के रोग पिड़ित होने पर जब अरब चिकित्सक उन्हें नहीं ठीक कर पाये तो चिकित्सक मनका ।माणिक्य। बगदाद बुलाए गये इनके द्वारा सुल्तान रोगमुक्त हुआ और सुल्तान ने इन्हे राजकीय चिकित्सालयो के संगठन तथा अरबी में संस्कृत के वैद्यक ग्रन्थो के अनुवाद के लिए रोक लिया था।[7] सलेह विन बहल तथा दहन मनका के दो साथी भी उनके साथ बगदाद गये थे। अल्तेकर के

----

1. वासुदेव उपाध्याय: पूर्व मध्यकालीन भारत, पृ0 264.

2. वहीं.

3. नदवी: आरब और भारत के सम्बन्ध, पृ0 122.

4. ईश्वरी प्रसाद, ए शार्ट हिस्ट्री आफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया, पृ03।.

5. अल्तेकर, पूर्वोक्त, पृ0 143.

6. वहीं.

7. नदवी. अरब और भारत के सम्बन्ध, पृ0 103-23. सचाऊ, भूमिका पृ031.

अनुसार अरब तथा मेसोपोटामिया में वहां के विद्यार्थियों को शिक्षा देने तथा चिकित्सालयों का संगठन करने के लिए भारतीय वैद्यों की आवश्यकता पड़ती थी।[1]

अरबी लेखक शेराविन ने "चरक" का नाम "वसरक लिखा है।[2] दूसरे अरबी लेखक ने उसका नाम "सिख" लिखा है।[3] इतिहासविदों के अनुसार कनिष्क के राजवैद्य आचार्य चरक की मौलिक कृति "चरकसंहिता" का संशोधन भी कश्मीर के निवासी दृढ़वल ने आठवीं अथवा नवीं शताब्दी में किया था।[4] आयुर्वेद विज्ञान के दूसरे आचार्य "सुश्रुत संहिता" का प्रचार चरक की भांति देश के बाहर भी हुआ था। इनकी ग्रन्थ की प्रसिद्धि पूर्व में कम्बोडिया से लेकर पश्चिम में अरब देश तक फैली हुई थी।[5] 1060ई0 के लगभग बंगाल के चक्रपाणि ने चरक और सुश्रुत पर टीका लिखने के अतिरिक्त "चिकित्सा-सार-संग्रह" नामक ग्रन्थ भी लिखा था।[5] ग्यारहवीं या बारहवीं शताब्दी में वंगसेन ने भी "चिकित्सासार-संग्रह" ग्रन्थ लिखा।[6] वृन्द ने "सिद्धियोग" अथवा "वृन्दमाधव" की रचना की जिसमें ज्वर से लेकर विष प्रयोग तक जितने रोग हो सकते है उनकी औषधि बतलाई गयी है।[8]

---

1. अल्तेकर: पूर्वोक्त, पृ0 143.
2. आर0सी0दत्त : पूर्वोक्त, पृ0 112.
3. वहीं.
4. वासुदेव उपाध्याय: पूर्व मध्यकालीन भारत, पृ0 264.
5. वहीं.
6. वहीं.
7. वहीं.
8. वहीं., पृ0 265.

विवेच्य युग में पशु-पक्षी विज्ञान और कृषिशास्त्र भी अध्ययन का विषय था। मृच्छकटिक से ज्ञात होता है कि हस्तिविद्या, अश्वविद्या के साथ-साथ विविध पशुओं के ज्ञान के अतिरिक्त अनेक पंक्षियों का ज्ञान भी उस समय पर्याप्त था।[1] बृहस्पति ने -"गजलक्षण और गो वैद्य शास्त्र की रचना की थी।[2] अश्वविज्ञान के आचार्य शालिहोत्र ने "अश्वतंत्र तथा" शालिहोत्र शास्त्र नामक ग्रन्थों का प्रणयन किया। इन ग्रन्थों में अश्वों की चिकित्सा, भेद पहचान तथा उनके गुण दोषों का विस्तृत विवेचन है।[3] गण रचित "अश्वायुर्वेद, जयदत्त रचित अश्ववैद्यक वर्धमान की योगमंजरी और नकुल की "अश्वचिकित्सा भी उपयोगी ग्रन्थ है।[4] मल्लिनाथ ने हयलीलावती ग्रन्थ का उल्लेख किया है।[5] शूद्रक को स्वयं हस्ति विद्या में दक्ष और शत्रुओं की हस्तियों को वश में करने वाला कहा गया है।[6] मृच्छकटिक में सेवक कर्णपूरक तक उन्मत्त हाथी को वश में करना जानता था।[7] 13वीं शताब्दी में पशु चिकित्सा सम्बन्धी एक संस्कृत ग्रंथ का फारसी में अनुवाद किया गया इसमें घोड़ों का वर्णन ही प्रधान है।[8] जैन विद्वान हंसदेव का लिखा हुआ "मृगपक्षिशास्त्र" भी अपने विषय का उपयोगी एवं प्रमाणिक कृति है।[9] इस ग्रन्थ में सिंह, व्याघ्र, भालू, गैण्डा, घोड़ा ऊँट, गधा, गाय, बैल, गरुण हंस, बाज गिद्ध, सारस, कौआ आदि नाना पक्षियों का विस्तृत विवरण दिया है। जिसमें उनके भेद, वर्ण, युवा-

---

1. शालिग्राम द्विवेदी :मृच्छकटिक शास्त्रीय, सामाजिक एवं राजनीतिक अध्ययन, पृ0 214 पर उद्धृत मृच्छकटिक, चतुर्थ अंक.

2. वासुदेव उपाध्याय, पूर्व मध्य कालीन भारत, पृ0 270.

3. वही: पृ0 271.

4. वही.

5. वही.

6. शालिग्राम द्विवेदी: मृच्छकटिक शास्त्रीय ,सामाजिक एवं राजनीतिक अध्ययन, पृ0 214 पर उद्धृत मृच्छकटिक, चतुर्थ अंक.

7. वही.

8. हरविलास शारदा: हिन्दू सुपिरियारिटी, पृ0 256-57.

काल संयोग समय, गर्भकाल, प्रकृति, जाति, आयु, भोजन तथा निवास का वैज्ञानिक वर्णन पाया जाता है।[1] पशु चिकित्सा शिक्षा के लिए किसी विद्यालय का कहीं उल्लेख नहीं हुआ है।[2]

पंक्षियों की चिकित्सा के आचार्य पालकाप्य माने जाते है जिनका ग्रन्थ "हस्त्यायुर्वेद "या गजायुर्वेद अत्यन्त प्रसिद्ध है।हेमाद्रि ने इनके द्वारा लिखे गये "गजचिकित्सा,"गज दर्पण"और "गजपरीक्षा"ग्रन्थो का उल्लेख किया है"नारायण ने अपनी कृति "मातंग लीला में पालकाप्य की सहायता लेना स्वीकार किया है।[3] उउल्लण ने सुश्रुत की टीका करते हुए वात्स्यायन का उद्धरण देकर लिखा है कि वह कृमियों और सरीसृपों के विषय में प्रामाणिक विद्वान है। उसने कृमियों के भिन्न-भिन्न अंगो पर विचार किया है।[4] भविष्य पुराण में भी सर्पों का उल्लेख है।[5] इस प्रकार तद्युगीन समाज में प्राणीमात्र के प्रति प्राकृतिक अनुराग का पता चलता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे अध्ययन काल में बदलते हुए सामाजिक परिवेश के चलते चिकित्सा विज्ञान का अध्ययन और व्यवसाय सम्मानीय कर्म नहीं रह गया था ।मिताक्षरा से ज्ञात होता है कि आयुर्वेद का अध्ययन वैश्य वर्ग तक ही सीमित था तथा इसकी शिक्षण अवधि चार वर्ष तक होती थी।[6] अल्तेकर के अनुसार देश में बढ़ती हुई कट्टरपंथिता ने

---

1. वासुदेव उपाध्याय:पूर्व मध्यकालीन भारत,पृ0 272.
2. अल्तेकर पूर्वोक्त,पृ0 145.
3. वासुदेव उपाध्याय :पूर्व मध्यकालीन भारत,पृ0 270.
4. डा0विनय कुमार सरकार,पूर्वोक्त, पृ0 71-75.
5. वासुदेव उपाध्याय:पूर्व मध्य कालीन भारत,पृ0 271.
6. याज्ञवल्क्य पर मिताक्षरा.2.184.

श्रमो के चीड़-फाड़ का विरोध किया तथा कृषि कर्म की निन्दा की क्यो कि खेत जोतने में जीव -जन्तुओ की हत्या होती थी। अतः कालान्तर में कौशल दक्षता कम होने लगी, शल्य चिकित्सा लुप्त हो गयी और कृषि भी अपेक्षित तथा निन्दनीय कर्म हो गया ।[1]

भारतीय प्राचीन काल से आभूषण प्रेमी रहे है। विवेच्य युग में रत्न विज्ञान का अध्ययन स्वभाविक था। "नैषधीय चरित में पारे की सहायता से लोहे को स्वर्ण में बदलने का उल्लेख है।[2] बुद्ध भट्ट की "रत्नपरीक्षा" तथा नारायण पंडित की "नवरत्न परीक्षा" इस विषय के प्रमुख ग्रन्थ है। जिनमें नवरत्नो की परीक्षा, उनके गुण-दोष का विवेचन तथा उनके धारण करने से मनुष्य के जीवन पर प्रभाव आदि का धार्मिक वर्णन किया गया है।[3] विजयसेन की देवपारा प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि ब्राम्हण को अनेक बहुमूल्य रत्नदान में दिये गये थे परन्तु ग्रामीण स्त्रियां उसे पहचान न सकी थी। रत्नो की पहचान के लिए नागरिक रमाणियो की सहायता की गयी थी। अतएवं यह कहा जा सकता है कि नगरो में रत्नो के जानकार रहते थे और स्त्रियां तक उन्हे पहचान सकती थी। लोगों में इसका समुचित ज्ञान था ।[4] "मणिपरीक्षा" "ज्ञान रत्नकोष" "रत्नदीपिका" और "रत्नमाला" उक्त विषय पर अन्य मुख्य ग्रन्थ है।[5] धातुशास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थ "लौह रत्नाकर ,लोहार्णव, और

---

1. अल्तेकर : पूर्वोक्त, पृ0 180-81.
2. नैषधीय चरित, 4. 82.
3. वासुदेव उपाध्याय : पूर्व मध्य कालीन भारत, पृ0 272-73.
4. वही, उद्धृत ए0इ0, भाग-1.
5. कीथ: हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ0 465.

लौह शास्त्र आदि प्रसिद्ध है।[1]

हमारे अध्ययनकाल में शिल्प कलाओं का प्रशिक्षण वंशानुगत तथा पारिवारिक हो गया था।[2] फिर भी प्रारम्भिक शिक्षा के अन्तर्गत शिल्प स्थान विद्या - (जिससे अनेक शिल्प एवं कला का ज्ञान प्राप्त होता था) को ह्वेनसांग ने अनिवार्य विषय के रूप में वर्णित किया है।[3] धागा काटने और कपड़ा बुनने का अभ्यास भिक्षुओं के लिए भी आवश्यक होना शिल्प कला के महत्त्व को सूचित करता है।[4] स्पष्ट है प्रत्येक भिक्षु की धार्मिक शिक्षा भी शिल्प कला पर केन्द्रित थी।[5] मिताक्षरा में शिल्प शिक्षा की अवधि चार वर्ष बतायी गयी है।[6] याज्ञवल्क्य के अनुसार ब्रह्मचारी पहले शिल्प की शिक्षा की अवधि निश्चित करके गुरु गृह में निवास करें।[7] नारद ने निर्देश दिया है कि यदि कोई शिल्प की शिक्षा प्राप्त करने का इच्छुक हो तो स्वबान्धवों की आज्ञा लेकर शैक्षणिक अवधि नियत करके गुरु गृह में रहे। ऐसी स्थिति में आचार्य उसे अपने घर पर शिक्षा देगा तथा भोजनादि की व्यवस्था करेगा।[8] असहाय से भी इस मत की पुष्टि होती है।[9] शिष्य की लगन, भक्ति और योग्यता से प्रभावित होने पर ही आचार्य उसे अपने व्यवसाय के रहस्य बतलाता था।[10]

----

1. गौरीशंकर हीरा चन्द ओझा: पूर्वोक्त, पृ0 107.
2. दि जरनल आफ द बिहार रिसर्च सोसाइटी, जिल्द-46, भाग -1-4 पृ0 127, 1970.
3. वाटर्स, I, पृ0 155.
4. प्रोसीडिंग्स आफ द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, पृ0 134, 1941.
5. वहीं, पृ0 133.
6. मिताक्षरा, I, 134.
7. याज्ञवल्क्य स्मृति, I, 184, पृ0 331.
8. नारद: 5, 16, 17, मिताक्षरा में उद्धृत I, 184.
9. वहीं.
10. अलतेकर : पूर्वोक्त पृ0 152-53.

यदि बिना उचित कारण से शिष्य आचार्य को त्याग दे तो उसे शर्त की अवधि तक आचार्य के साथ रहने, सीखने और कार्य करने के लिए बाध्य किया जा सकता था।[1] यदि आचार्य शिष्य की शिक्षा में प्रमाद करे और उससे शिल्प के अतिरिक्त अन्य कार्य करावे तो शिष्य वचन भंग के उत्तर दायित्व से सर्वदा मुक्त होकर आचार्य का परित्याग कर सकता था।[2] विज्ञान तथा शिल्प की शिक्षा प्राय: उम्मीदवारी प्रथा[3] के माध्यम से दी जाती थी।

शिल्प शास्त्र तथा भवन निर्माण शास्त्र पर अनेक ग्रन्थ उपलब्ध है, जिनमें वास्तुशास्त्र, प्रासादानुकीर्तन, चक्रशास्त्र, चित्रपट, रथलक्षण, विश्वकर्मीत, पक्षि मनुष्यालय, कौतुक लक्षण, सारस्वतीय, शिल्पशास्त्र, विश्वविद्या भरण, विश्व कर्म प्रकाश आदि प्रमुख है।[4] ग्यारहवीं सदी के एन्नायिरम के विद्यालय में चित्रकला, मुर्तिकला, तथा वास्तुकला की शिक्षा दिये जाने का प्रमाण मिलता है।[5] भवन निर्माण शास्त्र से सम्बन्धित प्रमुख ग्रन्थ "मानसार" है जिसे डा0पी0के आचार्य ने सम्पादित कर आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से प्रकाशित किया है।[6] अल्तेकर के अनुसार आठवीं नवी-शताब्दी तक कम से कम उच्चवर्ग के कलाकारो को पर्याप्त साहित्यिक शिक्षा अवश्य मिलती थी। बाद में कला और शिल्प का मान समाज में गिर गया था। कलाकारो की भी अब अवनति हो गयी थी और धीरे-धीरे वे रूढ़ियो के बन्धन में जकड़ गये थे।[7]

---

1. नारद स्मृति, शुश्रूषाभ्यु पगमप्रकरणम्, 17-22.
2. याज्ञवल्क्य की टीका, अपरार्क में कात्यायन का वचन, पृ0 84.
3. विवाद रत्नाकर में उद्धृत बृहस्पति, पृ0 141,
4. वासुदेव उपाध्याय: पूर्व मध्यकालीन भारत, पृ0 273.
5. एनुअल रिपोर्ट्स आफ साउथ इण्डिया, 1912 सं0 201.
6. डा0आचार्य, मानसार (आ0यू0प्रे0), पृ0 18.
7. अल्तेकर: पूर्वोक्त, पृ0 154.

आलोच्यकाल में किसी वस्तु को चुराना भी कला की श्रेणी में आता था। मृच्छकटिक से ज्ञात होता है कि "स्तेयशास्त्र" अथवा "चौर्यशास्त्र" पर भी कोई पुस्तक थी। जो चोरों के लिये "मार्ग दर्शन" का कार्य करती थी और उन्हें चौर्यकला का व्यावहारिक ज्ञान कराती थी। इस शास्त्र पर "षडमुख-कल्प" नामक ग्रन्थ उपलब्ध है जिसमें चोरी के लिए जादू का जानना आवश्यक बताया गया है।[1]

उच्च श्रेणी परिवारों में विस्तृत व्यापारिक शिक्षा दी जाती थी। सम्भवतः घर की दुकानों में बैठकर ही युवक इसमें से अधिकांश शिक्षा ग्रहण कर लेते रहे होंगे। सामान्य व्यापारी पुत्रों को उनके परिमित कार्य क्षेत्र के अनुसार शिक्षा दी जाती थी। जो विद्यार्थी अन्तर्प्रान्तीय या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शिक्षा लेना चाहते थे उन्हें विभिन्न जनपदों की भाषाओं का भी व्यावहारिक ज्ञान कराया जाता था। बैंकिंग के सिद्धान्त भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित थे।[2]

भारतीय चित्रकला का स्वर्णयुग अजन्ता से समाप्त हो जाता है। यह शैली भारत में सातवीं सदी तक प्रचलित रही।[3] सातवीं शताब्दी के बाद अभिलेख उत्कीर्ण करने की कला का ज्ञान विशेष रूप से कराया जाने लगा था। कभी-कभी ताम्रपत्र पर लेख उत्कीर्ण करना भी सिखाया जाता था।[4]

अलतेकर के अनुसार चित्रकला, मूर्तिकला वास्तुकला, काष्ठकला, कृषि आदि कलाओं की शिक्षा के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान सीमित इसलिए है क्योंकि न तो स्मृतियों ने, जिन्होंने हमारी शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया है, न विदेशी यात्रियों -हूवेनसांग, इत्सिंग आदि ने जो तत्कालीन शिक्षा की स्थिति पर प्रकाश डालते है- इन कलाओं के सम्बन्ध में

---

1. डा० हरप्रसाद शास्त्री: रिपोर्ट, पृ० 8.
2. अल्तेकर: पूर्वोक्त, पृ० 149.
3. वासुदेव उपाध्याय: प्राचीन भारत, पृ० 169-70.
4. सी०पी०ला: स्टडी ऑफ ऐन्शियन्ट इण्डियन इन्सक्रिप्सन, पृ०175.

कोई रूची ली है।[1] नागानन्द नाटक में विद्याधरों का राजकुमार जीमूत वाहन मलयवती का चित्र मिट्टी के रंगों से वहीं एक शिला पर बनाते हुए वर्णित किया गया है।[2] नलचम्पू[3] में चित्रकला के साथ रंजनकला का भी उल्लेख है। कथा सरित्सागर में चित्रकार एवं चित्रकला के अनेक उदाहरण है।[4] आठवी शताब्दी के बाद भित्ति चित्र के स्थान पर छोटी आकृतियां बनने लगी जिसका प्रधानकार्य हस्तलिखित ग्रन्थों का प्रकाशन था।[5]

संगीत शास्त्र में नृत्य, गीत, वाद्य और अभिनय सम्मिलित थे। नृत्य तथा संगीत का उपयोग आजिविका के लिए भी होता था। इनके धार्मिक सिद्धान्तों में गीत मार्ग तथा नृत्य मार्ग सम्मिलित थे।[6] शार्ङ्गदेव के "संगीत रत्नाकर" में विवेच्य युग से पूर्व और समकालीन अनेक संगीत विद्वानों का नामोल्लेख है।[7] "संगीत रत्नाकर" देवगिरि के यादव राजा सिंघण जिसका राज्याभिषेक 1200ई0में हुआ था, दरबार के गायनाचार्य शार्ङ्गदेव ने लिखा था अतएवं वह हमारे काल की संगीत स्थिति का बोधक है।[8] इसमें शुद्ध सात और विकृत बारह स्वर, वाद्यादि के चार भेद, स्वरों की श्रुति एवं जाति, ग्राम, मूर्च्छना, प्रस्ता, राग, ताल, नर्तन तथा वाद्यों के नाम का सुन्दर वर्णन किया गया है जिससे उस समय की संगीत की उन्नत अवस्था का परिचय मिलता है।[9] मृच्छकटिक में भी स्थान-स्थान पर नृत्य, गीत और वाद्य

---

1. अलतेकर: प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ0 149-50.
2. रोमेश चन्द्र दत्त: पूर्वोक्त, पृ0 125-26.
3. नलचम्पू चतुर्थ उच्छ्वास, पृ0 199.
4. वाचस्पति द्विवेदी: कथासरित्सागर-एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0190. पर उद्धृत कथासरित्सागर, 9/5/34, 17/4/26, 12/34/74.
5. वासुदेव उपाध्याय: पूर्व मध्यकालीन भारत, पृ0 170.
6. राकिल: लाइफ आफ बुद्ध, 1. 249. 2.
7. डा0गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा.: पूर्वोक्त, पृ0 111-112. वासुदेव-उपाध्याय: पूर्व मध्यकालीन भारत, पृ0170
8. वासुदेव उपाध्याय: पूर्व मध्यकालीन, भारत, पृ0 269.
9. वहीं, डा0 ओझा: मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ0 212.

का उल्लेख है।[1] 'मानसोल्लास' में चार प्रकार के वाद्य बताये गये है।[2] कथासरित्सागर में वल्लकी, वीणा, पिंजरक ग्रन्थि ।घंटा।, भेरी, डमरू ।कांस्यताल।, मांक, मृदंग, मुरज दुन्दुभि, तूर्य, डिण्डिम घंट, वेणी आदि वाद्यों का उल्लेख है।[3] नैषध महाकाव्य में भी विभिन्न वाद्यों का उल्लेख है।[4] वाद्ययुक्त नृत्य तथा संगीत प्रभावोत्पादक होते है। अतः नृत्य तथा संगीत में वाद्य की प्रधानता थी।[5] नलचम्पू में वीणा, नगाड़ा, ताल, पण, वेणु आदि वाद्यों का उल्लेख मिलता है।[6] कथासरित्सागर में गीत, वाद्य साथ-साथ उल्लिखित है।[7] संगीत एवं वाद्य आलोच्यकालीन समाज में मनोरंजन के विषय अवश्य थे क्यों कि इनके प्रदर्शन का प्रमाण प्रस्तरों पर भी मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये प्रदर्शन चित्र सामाजिक उत्सवों के होंगे। परन्तु डा० शालिग्राम द्विवेदी का मत है कि कलाकारों की स्थिति अच्छी नहीं थी।[8]

कथासरित्सागर में अनेक नृत्यशिक्षकों का उल्लेख है।[9] राजदरबारों में नाट्यशालाओं के होने के उल्लेख मिलते है तथा स्त्री-पुरुष दोनों ही के द्वारा इस विषय मे शिक्षा ग्रहण किये जाने की जानकारी प्राप्त होती है।[10]

---

1. शालिग्राम द्विवेदी: पूर्वोक्त, पृ० 221-22.
2. मानसोल्लास: 4/17/246-69
3. वाचस्पति द्विवेदी: कथासरित्सागर एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 199. पर उद्धृत क०स०सा० ,8/6/34, 9/4/83, 1/2/172, 2/1/189, 2/2/19,- 3/6/228 आदि।
4. श्री हर्ष: नैषध महाकाव्य, पंचदश सर्ग:
5. मानसोल्लास: 4/17/2470.
6. नलचम्पू: चतुर्थ उच्छ्वास, पृ० 199.
7. वाचस्पति द्विवेदी: पूर्वोक्त, पृ० 188.
8. शालिग्राम द्विवेदी: पूर्वोक्त, पृ० 224.
9. कथासरित्सागर: 9/1/27.
10. वाचस्पति द्विवेदी: पूर्वोक्त, पर उद्धृत कथासरित्सागर 9/1/27।

विवेच्य युग में समाज के सभी वर्गों को संगीत से लगाव था।[1] गन्धर्वों में यह विद्या विशेष प्रचलित थी। राजा महासेन ने वासवदत्ता को गांधर्व विद्या की शिक्षा के लिये उदयन को नियुक्त किया था।[2] मंदिरों में देवमूर्तियों के समक्ष नृत्य गीत और वाद्य का आयोजन करके देवताओं का परितोष करने के साथ ही इन कलाओं को उच्चत्तर प्रतिष्ठा प्राप्ती करती हुई और साथ ही साथ मंदिर साम्प्रदायिक विद्यालयों में नृत्य, गीत आदि का प्रशिक्षण भी होने लगा था।[3] चोल युग में ताण्डव नृत्य करते धातु की शिव प्रतिमा मिली है जिसके आधार पर भारत में नृत्य कला का विकास समझा जाता है।[4] पहाड़पुर की खोदाई में नाचती हुई स्त्री की मृण्मयी मूर्ति प्राप्त हुई है। जिससे तद्‌युगीन समाज में नृत्यकला के महत्व का आभास होता है।[5] राजतरंगिणी के अनुसार राजा जयापीड़ व्याकरण के साथ-साथ नृत्य गीतादि कलाओं में भी निपुण था।[6] नृपति हर्ष भी कुशलगायक एवं नृत्य गीत के प्रेमी थे।[7] ऐसा उल्लेख मिलता है कि नृत्य, गीत एवं वाद्य-कला अधिकतर उच्चवर्गीय परिवारों में विकसित हुई थी।[8] बाण ने[9] अभिजात्य वर्ग के लिए नृत्य, गीतादि कलाओं का ज्ञान सांस्कृतिक दृष्टि से आवश्यक माना है।

---

1. वासुदेव उपाध्याय: दि सोशियो रिलिजस कन्डीशन्स आफ नार्दर्न इण्डिया, पृ0131.
2. कथासरित्सागर: 8/1/101, 8/6/9, 18/4/124, 9/1/177, 12/32/40।
3. एनुअल रिपोर्ट्स आफ साउथ इण्डिया, 1912 सं0 201.
4. वासुदेव उपाध्याय: पूर्व मध्यकालीन भारत, पृ0 171.
5. वही.
6. राजतरंगिणी: 4/423-49।
7. वही, 6/613-627.
8. अलतेकर: एजुकेशन इन ऐन्शियन्ट इण्डिया, पृ0 186.
9. कादम्बरी (अंग्रेजी अनुवाद), पृ0 104-105 काले ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि हमारे अध्ययन कालीन व्यावसायिक शिक्षा में तद्युगीन सामाजिक परिवेश का स्पष्ट छाप प्रतिबिम्बित होता है। व्यावसायिक वस्तुओं का मानवीय महत्व होते हुए भी व्यावसायिक शिक्षा का सामाजिक महत्व घटने लगा था। अलतेकर[1] के अनुसार वैश्यों और शूद्रों के सम्मान में ह्रास के कारण उनके कर्मों के प्रति समाज का दृष्टिकोण परिवर्तित होता गया। हस्तकला के कर्म समाज में हेय दृष्टि से देखे जाने लगे। यह सब ब्राम्हण और क्षत्रियों द्वारा हस्तकला के सामान्य बहिष्कार के कारण हुआ। आठवीं शताब्दी के बाद के समाज के सर्वोत्तम मस्तिष्कों का द्वार इन ललित कलाओं के लिए सर्वदा के लिए बन्द हो गया। अतः इनका ह्रास भी अवश्यम्भावी था।

हमारे अध्ययन काल के कतिपय ग्रन्थो में शिक्षा विषयों की लम्बी सूची प्राप्त होती है। कुछ प्रमुख सूचियां इस प्रकार है-

हरिभद्र सूरित के "समरादित्य-कथा" से 84 अध्ययन विषयों की लम्बी सूची प्राप्त होती है जो निम्नलिखित है-[2]

[1] लेख

[2] गणित

[3] आलेख्य --

[4] नाट्य

[5] गीत

[6] वादित

[7] स्वरगत [ललितकला]

[8] पुष्करगत

---

1. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ0 150,

2. दशरथ शर्मा: चौहान सम्राट पृथ्वीराज तृतीय और उनका युग, [राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर] पृ0-79-80,81,

॥07॥

॥9॥समताल

॥10॥द्रुत

॥11॥जनवाद --

॥12॥होरा

॥13॥काव्य

॥14॥अष्टापद

॥15॥अन्न विधि

॥16॥पान विधि

॥17॥शयन विधि

॥18॥आर्या --

॥19॥प्रहेलिका

॥20॥मागधिका

॥21॥गाथा ॥वृत्तज्ञान॥

॥22॥गीत

॥23॥श्लोक

॥24॥मधुमुष्टिकम् --

॥25॥गंधयुक्ति

॥26॥आभरण विधि

॥27॥तरूणी प्रतिकर्म

॥28॥स्त्रीलक्षलक्षण --

॥29॥पुरूषलक्षण

॥30॥हयलक्षण

॥31॥गजलक्षण

॥32॥गौलक्षण ॥स्त्रयादि लक्षण॥

॥33॥कुक्कुटलक्षण

॥34॥मेषलक्षण --

॥35॥ चक्रलक्षण --

॥36॥ छत्रलक्षण

॥37॥ दण्डलक्षण

॥आयुधलक्षण॥

॥38॥ असिलक्षण --

॥39॥ मणिलक्षण

॥40॥ कंकणीलक्षण

॥41॥ चर्मलक्षण

॥42॥ चन्द्रलक्षण --

॥43॥ सूरचरित

॥ग्रहचार॥

॥44॥ राहुचरित

॥45॥ ग्रहचरित --

॥46॥ सूत्रधार --

॥47॥ दूतकार

॥48॥ विद्यागतम्

॥49॥ मंत्रगतम्

॥मंत्रणादि॥

॥50॥ रहस्यगतम्

॥51॥ चाश्म

॥52॥ प्रतिहारम् --

॥53॥ व्यूह --

॥54॥ प्रतिव्यूह

॥55॥ स्कन्धावारन्यास

॥56॥ नगरयान

॥57॥ वास्तुमान

॥सेना विज्ञान॥

॥58॥ नगरनिवेश

॥59॥ वास्तुनिवेश

॥60॥ इष्वस्त्र

॥61॥ तत्व प्रवाद

॥62॥ अश्व शिक्षा

॥63॥ हस्तिशिक्षा --

।64। मणिशिक्षा

।65। धनुर्वेद

।66। हिरण्यवाद

।67। सुवर्णवाद

।68। मणिवाद

।69। बाहुयुद्ध --

।70। दण्डयुद्ध

।71। मुष्टियुद्ध

।72। अस्थियुद्ध

।73। युद्ध

।74। नियुद्ध

।75। युद्ध-नियुद्ध --

।76। सूत्रक्रीडा --

।77। वार्तक्रीडा

।78। व्यूहक्रीडा

।79। नालिका क्रीडा

।80। पत्रच्छेद्य

।81। कटकच्छेद्य

।82। प्रस्तरच्छेद्य

।83। सजीव-निर्जीव

।84। शकुनिरुत

।बाहुयुद्धादि।

। क्रीडादि।

कलाओं और विद्याओ का सुव्यवस्थित विचार "उपमितिभव प्रपच्चा कथा" और "प्रभावक चरित"में भी प्राप्त होता है।[1]

राजशेखर कृत-"प्रबन्धकोष"में शिक्षा विषयो की एक लम्बी सूची प्राप्त होती है, जिसमें बहत्तर विद्याओ और कलाओ के नामो का उल्लेख है।यथा[2]

।1। लिखितम्

।2। गणितम्

।3। गीतम्

।4। नृत्यम्

।5। पठितम्

।6। वाद्यम्

।7। व्याकरणम्

।8। छन्द

।9। ज्योतिष

।10। शिक्षा

।11। निरूक्त

।12। कात्यायनम्

।13। निघण्टु

।14। पत्रच्छेदम्

।15। नखच्छेदम्

।16। रत्नपरीक्षा

।17। आयुधाभ्यास

।18। गजारोहणम्

।19। तुरगारोहणम्

।20। तयोः शिक्षा

।21। मंत्रवाद

।22। यंत्रवाद

।23। रसवाद

।24। खन्यवाद

।25। रसायनम्

।26। विज्ञानम्

।27। तर्कवाद

।28। गरूणम्

।29। सिद्धान्त

।30। विषवाद

।31। शाकुनम्

।32। वैद्यकम्

।33। आचार्यविद्या

।34। आगम

।35। प्रासादलक्षणम्

।36। सामुद्रिकम्

।37। स्मृति

।38। पुराण

---

1. दशरथ शर्मा: चौहान सम्राट पृथ्वीराज तृतीय और उनका युग, ।राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर। पृ० 81.

2. प्रबन्ध-कोष - पृ0 26-28.

(39) वेद
(40) इतिहास
(41) विधि
(42) विद्यानुवादः
(43) दर्शन
(44) खेचरी कला
(45) अमरी कला
(46) इन्द्रजाल
(47) पातालसिद्धि
(48) धूर्तसम्बलम्
(49) गन्धवाद
(50) वृक्षचिकित्सा
(51) कृत्रिममणिकर्म
(52) सर्वकरणी
(53) वश्यकर्म
(54) पर्णकर्म
(55) चित्रकर्म
(56) काष्ठघाटनम्
(57) पाषाण कर्म
(58) लेपकर्म
(59) चर्मकर्म
(60) यन्त्रकररसवती
(61) काव्य
(62) अलंकार
(63) हसितम्
(64) संस्कृत
(65) प्राकृत
(66) पैशाचिकम्
(67) अपभ्रंश
(68) कपटम्
(69) देशभाषा
(70) धातुकर्म
(71) प्रयोगोपाय
(72) केवली विद्या

शुक्रनीतिसार में भी शिक्षा विषयो एक विस्तृत सूची प्राप्त होती है।- शुक्रनीतिसार में दी गयी चौसठ कलाओं की सूची निम्न प्रकार है-।

(1) नर्तनम्
(2) वस्त्राभूषणों के संधान की कला.
(3) शय्यास्तरण संयोगे पुष्पादि ग्रन्थन कला
(4) विभिन्न वाद्ययन्त्रों को बजाने की योग्यता

----

1. डा० गीता देवी-उत्तर भारत में शिक्षा व्यवस्था, पृ० 62,63
(600ई० से 1200ई०)

(5) अनेकरूपाविर्भाव-कीर्ति-ज्ञानम्

(6) द्यूतादिनेक क्रीडाभिरंजनम्

(7) अनेकासन संधाने रतेज्ञानम्

(8) मकरंदासवादीनां मद्यादीनां कृतिः कला

(9) अन्नादि सम्पाचन कला

(10) घाव से तीर निकालने की कला

(11) वृक्षारोपण की कला

(12) पाषाण को गलाने और भस्म बनाने की कला

(13) यावादिक्षु विकारणं कृतिज्ञानं

(14) धात्वोषधीनां सयोगक्रियाज्ञानं

(15) धातुसांकर्यपार्थक्यकरणं

(16) संयोग पूर्व विज्ञानंधात्वादीनां

(17) क्षारनिष्कासन ज्ञान

(18) शस्त्र संधान विक्षेपः पदादि न्यासतः कला

(19) मल्लयुद्ध

(20) अस्त्र फेंकने की कला

(21) व्यूह बनाने की कला

(22) गजाश्वरथ गत्यादि युद्ध संयोजन

(23) विविधासन मुद्राभिर्देवता तोषणं

(24) रथचालन

(25) सारथ्यं च गजाश्वादेर्गति शिक्षा कला

(26) मृत्तिका काष्ठ पाषाण धातु भाण्डादिसत्क्रिया

(27) चित्राद्यालेखनं

(28) तड़ागवापी प्रसाद सम भूमिक्रिया कला

(29) यंत्रवाद निर्माण कला

(30) विविध रंगो से रंगने की कला

(31) जल,वायु,अग्नि के संयोग और निरोध की कला

(32) नौकारथादि याननां कृतिज्ञानं

।33।सूत्रादिरज्जुकरण विज्ञान

।34।अनेक तन्तु संयोग पटबन्ध-कला

।35।रत्नो की परखने की कला

।36।स्वर्ण परखने की कला

।37।कृत्रिम स्वर्णरत्नादि क्रियाज्ञानं

।38।स्वर्णभूषण बनाने की कला

।39।रंग चढ़ाने की कला

।40।चर्मज्ञान

।41।पशुचर्माग्नि हरिक्रिया ज्ञानं

।42।दुग्ध दोहन कला.

।43।कंचुकि आदि सीने की कला

।44।जल में तैरने की कला

।45।गृहमार्जन कला

।46।वस्त्रसंमार्जन

।47।क्षुर कर्म

।48।तिलमांसादिस्नेहानां कला

।49।हल चलाने की कला

।50।वृक्षादिरोहणं

।51।मनोनुकूल सेवायाः कृति ज्ञानं

।52।वेणुतृणादि पात्राणमकृति ज्ञानं

।53।काँचपात्रादिकरण विज्ञानं

।54।जल से सींचने और निकालने की कला

।55।लोहाभिसार शस्त्रास्त्र कृति ज्ञानं

।56।पत्याण निर्मित करने की कला

।57।शिशु संरक्षण

।58।संयुक्त ताडन ज्ञानम् परापिधाने

।59।दाना देशीय वर्णानांसुसम्यलेखन कला.

॥60॥ ताम्बूलज्ञानं

॥61॥ कलाओ की सीखने की योग्यता

॥62॥ कार्य को शिघ्रता पूर्वक करने की कला

॥63॥ कलाओ के प्रतिदान की कला

॥64॥ कार्य को धीरे-धीरे करने की कला

उपर्युक्त चौसठ कलाओ के अतिरिक्त भी शुक्रनीतिसार में अनेक प्रकार की विद्याओ का भी उल्लेख है । यथा [1]

॥1॥ आयुर्वेद
॥2॥ धनुर्वेद
॥3॥ गन्धर्व वेद
॥4॥ तन्त्र
॥5॥ शिक्षा
॥6॥ स्मतिकल्प
॥7॥ व्याकरण
॥8॥ निरूक्त
॥9॥ ज्योतिष
॥10॥ छन्द
॥11॥ मीमांसा
॥12॥ वैशेषिक
॥13॥ सांख्य
॥14॥ ब्रम्ह
॥15॥ योगशास्त्र
॥16॥ इतिहास
॥17॥ पुराण
॥18॥ स्मृति
॥19॥ शंका सिद्धान्त
॥20॥ अर्थशास्त्र
॥21॥ काम सूत्र
॥22॥ शिल्प शास्त्र
॥23॥ अलंकार शास्त्र
॥24॥ काव्य
॥25॥ प्रादेशिक भाषा
॥26॥ अवसर कोटि
॥27॥ श्रुति
॥28॥ देशादिधर्म
॥29॥ नर्तन
॥30॥ वादन
॥31॥ तर्क
॥32॥ वेदान्त

---

1. डा०गीता देवी : पूर्वोक्त,पृ० 61-62.

शिक्षा विषयों के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हमारे अध्ययन काल में समय के अन्तराल के साथ ही साथ पाठ्य विषयों की संख्या में वृद्धि होती रही और पुराने विषयों की अपेक्षा नवीन विषयों के अध्ययन और अध्यापन की प्रवृत्ति बढ़ती रही। फिर भी यह स्पष्ट है कि सभी स्रोतों में वैदिक परिज्ञान के निमित्त कुछ विशेष विषयों के लिए प्रत्येक काल में न्यूनाधिक अध्ययन अध्यापन की व्यवस्था की गयी थी। सामाजिक परिवर्तन के इस युग में निवासियों के जीवन और दृष्टिकोणों में परिवर्तन होना स्वाभाविक था। सामाजिक परिवर्तन ने समाज के सामने नये-नये प्रश्न रखे। परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में ही समाधान भी प्रस्तुत किये गये, परिणामस्वरूप ज्ञान की नयी-नयी शाखाएं भी विकसित होती रहीं। अतः शिक्षा के विषयों में परिवर्तन होते रहना आवश्यक हो गया। अलतेकर ने लिखा है कि शिक्षा के पाठ्यक्रम का जनता की सफलताओं और उसकी महत्वाकांक्षाओं से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।[1] विवेच्ययुगीन शिक्षा प्रणाली में भी सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार ही शिक्षा विषयों में भी हम परिवर्तन देखते हैं।

==============

1. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ० 110.

चतुर्थ अध्याय

शैक्षणिक संस्थाएं

(क) गुरुकुल या आश्रम

(ख) परिषद

(ग) अग्रहार

(घ) मंदिर

(ङ) मठ

(च) प्रमुख विश्वविद्यालय

(छ) अन्य शिक्षा केन्द्र

किसी भी समाज एवं संस्कृति की मूल धरोहर उसकी शिक्षा व्यवस्था होती है, भले ही वह व्यक्तिगत हो अथवा संस्थाबद्ध हो। शैक्षणिक संस्था से तात्पर्य है। वह संस्था, जिसके द्वारा व्यक्ति संयमित जीवन यापन करते हुये विविध विषयों का ज्ञान प्राप्त करे। भारतीय मनीषियों और सामाजिक चिन्तकों ने क्रमशः, मानव के सर्वांगीण विकास हेतु ऐसे शैक्षणिक संस्थाओं के विकास की आवश्यकता अनुभूति की, जहां अधिक से अधिक विद्यार्थी उसका लाभ उठा सके। गुरूकुल या आश्रम जैसे व्यक्तिगत शिक्षण संस्थाओं का उल्लेख अतिप्राचीनकाल से ही प्राप्त होता है। जब कि अलतेकर के अनुसार भारत में सार्वजनिक शिक्षण संस्थाओं का जन्म पाँचवीं शताब्दी के आस-पास हुआ।[1]

गुरूकुल या आश्रम

हमारे अध्ययन काल 700ई0से 1200ई0 में शिक्षा संस्थाओं के रूप में गुरूकुलों या आश्रमों के उल्लेख प्राप्त होते है यद्यपि विवेच्ययुग में वे सिमटकर छोटे गुरूकुलों के रूप में रह गये थे, क्योंकि शिक्षा संस्थाओं के रूप में प्राचीन गुरूकुलों का स्थान मठ, मंदिर, अग्रहार और राज्य संरक्षित विश्वविद्यालय ग्रहण कर रहे थे।[2] आर0के0मुकर्जी के अनुसार अरण्य स्थित ऋषियों, मुनियों और तपस्वियों के आश्रम जिन्हें गुरूकुल कहते थे प्राचीन भारत में शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे।[3]

गुरूकुल शिक्षा प्रणाली प्राचीन शिक्षा की एक अनुपम विशेषता है। इसमें छात्र को आचार्य के कुल में रहना पड़ता था। आचार्य कुल में रहने के कारण छात्रों को आचार्य कुलवासी कहा जाता था।[4] "प्राचीनकाल में आचार्यों

---

1. अलतेकर : पूर्वोक्त, पृ0 43.
2. जयशंकर मिश्र: ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ0 168. डा0वी0एन0एस0यादव. पूर्वोक्त, पृ0 403.
3. आर0के0मुकर्जी: दि कल्चर एण्ड आर्ट आफ इण्डिया, पृ0 183.
4. नारदीय स्मृति: 5. 15. 16.

एवं विद्वानों का समाज में सर्वाधिक सम्मान था। उनके घर ही शिक्षालय थे।[1] समाज के सदस्य प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से आचार्य एवं विद्यार्थियों की सहायता करते थे।[2] चाहे यह सहायता गुरु दक्षिणा के रूप में हो, भिक्षाटन द्वारा प्राप्त की गयी धनराशि हो या वस्तुओं के रूप में हो अथवा राजा या कुलीन वर्ग द्वारा स्वेच्छा से दिये गये अनुदान के रूप में हो।

सामान्यतया प्राचीन काल में गुरुकुल या आश्रम की स्थापना नगर के कोलाहल से दूर शान्त एवं पवित्र वातावरण से युक्त एकान्त स्थल पर होती थी।[3] बाण के हर्षचरित में भैरवाचार्य के आश्रम का उल्लेख है जो सरस्वती के तट पर स्थित था[4] और थानेश्वर नृपति पुष्यभूति के आगमन पर वहाँ के आचार्यों और विद्यार्थियों ने उनका स्वागत किया था।[5] कथासरित्सागर में दूर देश के विद्यार्थियों के गुरु गृहों में आकर विद्याध्ययन करने के अनेक उदाहरण प्राप्त होते है।[6] अग्निदत्त नामक उपाध्याय का एक ग्राम में वट वृक्ष के नीचे शिष्यों को पढ़ाने का उल्लेख किया गया है।[7] देवदत्त विद्याध्ययन के लिए पाटलिपुत्र नगर में आता है एवं वेद कुम्भ नामक उपाध्याय से अध्ययन करता है।[8] इसीप्रकार एक ब्राम्हण का शोभावती नगरी से विशाला नगरी आकर ब्रम्हचारियों के बीच अध्ययन करने का उल्लेख है।[9] सोमदेव ने

----

1. कन्हानराजा: सम एस्पेक्ट्स आफ एजुकेशन इन एन्शियन्ट इण्डिया, 1950 लैक्चर, पृ0 110 एवं 105
2. डा0 वेद मिश्रा: एजुकेशन इन एन्शियन्ट इण्डिया, पृ0 34
3. गोपथ ब्राम्हण : 1,2,18,
4. वी0एस0अग्रवाल: हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0 57-62.
5. हर्षचरित, काउवेल का अंग्रेजी अनुवाद, पृ0 87.
6. डा0 वाचस्पति द्विवेदी: कथासरित्सागर, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0 175 पर-उद्धृत कथासरित्सागर, 3.6.1.
7. वहीं. कथासरित्सागर, 8.6.153-54.
8. वहीं. कथासरित्सागर, 1.7.56.
9. वहीं. कथासरित्सागर, 13.1.24.

नाम स्वामी नागक ब्राम्हण का जयदत्त उपाध्याय के यहाँ विद्याध्ययन करने का उल्लेख किया है।[1] हर्षचरित में बाण गुरू के कुल में शिक्षा प्राप्त करने का उल्लेख करता है।[2] दिवाकर मित्र विन्ध्याचल पर्वत पर अपने आश्रम में सभी धर्मानुयायियों और शाखाओं के विद्यार्थियों को अध्ययन कराता था।[3] अल्बेरूनी भी गुरूकुल का उल्लेख करता है। उसके अनुसार शिष्य रात-दिन गुरू की सेवा में तल्लीन रहता था।[4] विवेच्य कालीन अनेक लेखकों से ज्ञात होता है कि गुरूकुल की परम्परा तद्युगीन समाज में विद्यमान थी।[5]

गुरूकुल शिक्षा की सम्पूर्ण व्यवस्था आचार्य के ऊपर ही निर्भर था। वही नियमों की संरचना करते थे, तथा उन्हीं के द्वारा गुरूकुल की सभी समस्याओं के निराकरण के लिए प्रत्येक प्रकार के कार्य किये जाते थे। आचार्य की मौखिक स्वीकृति ही गुरूकुल में शिष्य के प्रवेश के लिए पर्याप्त थी।[6] गुरूकुलों में शिक्षा का माध्यम मौखिक था। आचार्य जो शिक्षण देता था शिष्य उसे अन्तस्थ कर लेता था।[7] अलतेकर के अनुसार निजी पाठशालाएं चलाने वाले उपाध्याय अपनी पाठशालाओं में प्रविष्ट होने वाले विद्यार्थियों की जाँच स्वयं कर लेते थे। वैदिक तथा व्यावसायिक शिक्षा के प्रारम्भ के अवसर पर कतिपय वैदिक संस्कार भी किये जाते थे।[8]

---

1. डा0वाचस्पति त्रिवेदी: पूर्वोक्त, कथासरित्सागर, 14.4.21.
2. हर्षचरित: अध्याय 1, पृ0 32-33.
3. हर्षचरित: काउवेल का अंग्रेजी अनुवाद, पृ0 236-36.
4. डा0जयशंकर मिश्र: ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ0 168.
5. स्मृ0चं0 : भाग 2, पृ0 195. डा0जयशंकर मिश्र: प्राचीन भारत का सामाजिक, इतिहास, पृ0 514 पर उद्धृत.
6. आर0के0मुकर्जी: एन्शियन्ट इण्डियन एजूकेशन पृ0 91.
7. प्राचीन भारत, भाग-1, उपेन्द्र ठाकुर, पृ0 148.
8. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ0 65.

गुरूकुलों में ब्रम्हचर्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध शिक्षा प्रणाली से था ।[1] ब्रम्हचर्य में ऐसी चर्या का समावेश होता था जो ब्रम्ह की प्राप्ति करा सके ।[2] भिक्षाटन, वेदाध्ययन तथा जीवन को पवित्र करना भी ब्रम्हचारी का कर्त्तव्य माना जाता था ।[3] ब्रम्हचारी शब्द से तात्पर्य था, कि जिसमें ब्रम्ह अर्थात् सत्य को खोजने एवं समझने की एक धुन सी लगी हो।[4] गुरूकुल में बालकों को संस्कारित किया जाता था ।[5] सत्य का पूर्ण प्रतिबिम्ब गुरूकुलों में देखने को मिलता था ।[6] गुरूकुल शास्त्रानुमोदित शरीर, इन्द्रिय तथा मन के शोधक होते थे ।[7]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि विवेच्य युग में गुरूकुल शिक्षा प्रणाली का, अस्तित्व अभी बना हुआ था, यद्यपि उसके प्रभाव क्षेत्र क्षीण हो गये थे ।सम्भवतः इस का मुख्य कारण सार्वजनिक शैक्षणिक संस्थाओं का उद्भव रहा होगा जिससे प्रभावित होकर गुरूकुल जैसी व्यक्तिगत शैक्षणिक संस्थाएं भी सार्वजनिक शिक्षालयों में परिवर्तित होने लगी होगी ।

परिषद

प्राचीन भारत में एक विशिष्ट प्रकार की शिक्षण संस्था "परिषद के रूप में प्रचलित थी ।परिषद का तात्पर्य होता है चारों ओर बैठना ।

---

1. ऋग्वेद 10-109-5, अथर्ववेद 11-5-19 एवं 11-5-1-2-26
2. बृहदारण्यक उपनिषद 2-3-6, 5-41, 5-5-7
3. शतपथ ब्राम्हण 11-3-3-5-7.
4. छान्दोग्यपनिषद 8-3-4
5. जातक संख्या 252.
6. आर०के०मुकर्जी: पूर्वोक्त, पृ० 117.
7. वाचस्पत्ति गैरोला; वैदिक साहित्य और संस्कृति पृ० 363.

परिषदों मेंविद्वान लोग एकत्र होकर वाद-विवाद करके अपनी शंकाओं का समाधान करते तथा ज्ञान पिपासा को तुष्ट किया करते थे। उपनिषद में राजाप्रवाहण एवं आरूणि का शंका समाधान इसका प्रमाण प्रस्तुत करता है।[1] विज्ञानेश्वर ने इसे धर्म संघ कहा है।[2]परिषदों की शिक्षण प्रणाली मूलतः प्रश्नोत्तर प्रणाली थी। पाणिनी ने तीन प्रकार की परिषदों का उल्लेख किया है-।1। शिक्षा सम्बन्धी ।2।राजसत्ता सम्बन्धी ।3।समाज में गोष्ठी सम्बन्धी। ये परिषदें विवादास्पद प्रश्नों का समाधान करने में पूर्ण सहयोग देती थी। मनुस्मृति में दस श्रेष्ठ पुरूषों की दशवरा सभा या तीन श्रेष्ठ पुरूषों की त्र्यवरा सभा का उल्लेख है।[3]ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक परिषद अपने विषय क्षेत्र के विद्वानों की सभा होती थी। हमारे अध्ययन कालीन ।-700ई0से 1200ई0।साक्ष्यों में परिषदों से सम्बन्धी उद्धरण अल्प ही प्राप्त होते है। सम्भवतः तद्युगीन समाज में इसके प्रचलन में कमी आ गयी थी।

अग्रहार

अग्रहार ऐसे गाँवों को कहा जाता था जिन गांवों को राजाओं द्वारा किसी शुभअवसर पर विद्वान ब्राम्हणों को राजासभाओं में आमंत्रित कर उनकी जीविका के निर्वाह हेतु दान कर दिया जाता था। इन गाँवों की सम्पूर्ण आय इन्ही विद्वान ब्राम्हणों को मिला करती थी। विद्वान

---

1. छान्दोग्य उपनिषद, 5/3/6-7
2. याज्ञ0 स्मृति. मिताक्षरा, 1.9
3. मनु. 2.110

ब्राम्हणो के निवास के कारण ये अग्रहार उच्च शिक्षा के केन्द्र होते थे। यहाँ संस्कृत के विभिन्न शास्त्रों का निःशुल्क अध्यापन होता था।[1] ऐतिहासिक साक्ष्यों से अग्रहारो के संदर्भ में पर्याप्त प्रमाण प्राप्त होते है। पाँचवी शताब्दी के एक अभिलेख में कल्याण नामक एक बौद्ध विहार को उसकी धार्मिक एवं शैक्षणिक व्यवस्था के लिए अग्रहार के रूप में गांव दान में दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[2] कलिंग का राजा उपवर्मा इस बात का ध्यान रखता था कि उसके राज्य में अग्रहार ग्रामो की संख्या छत्तीस से कम न हो।[3] हमारे अध्ययन काल 1700ई0से 1200ई0 में भी विभिन्न वेदाध्यायी ब्राम्हणो को, विशेष विद्वान व्यक्तियो को तथा शिक्षा संस्थाओं को अग्रहार के निमित्त ग्रामदान एवं भूमिदान दिये जाने के ऐतिहासिक प्रमाण मिलते है।[4]

राजतरंगिणी में विद्वान ब्राम्हणो को अग्रहार दान में देने के अनेक उद्धरण मिलते है।[5] नृपति गोपादित्य ने कई अग्रहारो को दान दिया था।[6] उसने पवित्र देशो से विद्वान ब्राम्हणो को लाकर अग्रहारो में बसाया था।[7] यशस्कर द्वारा ब्राह्मणो को प्रदत्त पचपन अग्रहार विविध उपकरणो से समन्वित थे।[8] जयसिंह के अभिलेख में अमरेश्वर पाठशाला को भूमिदान किये

---

1. अलतेकर: प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति, पृ0 107.
2. सी0आई0आई0, जिल्द 4, भाग-1, पृ0 21.
3. इन्डी0एन्टी0 12-5.
4. सी0आई0आई0, जिल्द 4, भाग-1, पृ0 28, वहीं, पृ0 36-37, द स्ट्रगल फार इम्पायर, पृ0 510, सी0आई0आई0, जिल्द 4, भाग-1, पृ037.-144.
5. राजतरंगिणी :3. 481, 4. 9. 7. 185. 1. 7. 41. 42. 12. 10. 5-6
6. वहीं. 1. 340.
7. वहीं. 1. 343.
8. वहीं. 6. 89.

जाने का उल्लेख है।[1] सिंधु और द्रविड़ देश के ब्राह्मणों को ग्रामदान देकर बसाए जाने का उल्लेख कल्हण ने किया है।[2] स्मृति के टीकाकार लक्ष्मीधर ने भी अनेक गांव विद्वानों को दान दिये थे।[3]

दानग्राही को सभी प्रकार के कर वसूलने का अधिकार दिया जाता था।[4] राजा अपने उत्तराधिकारियों के लेख में इस बात के निर्देश कर देते थे कि दान दिये गये भू-भाग को वापस लेने अथवा दान में बाधा पहुंचाने पर वह व्यक्ति नरकगामी होगा तथा नियम का पालन करने वाले को स्वर्ग मिलेगा।[5] इस प्रकार अग्रहारों के शैक्षिक महत्त्व के साथ आध्यात्मिक महत्व का भी बोध होता है।

राष्ट्रकूटों के शासन काल (753 ई० से 953 ई०) में कर्नाटक प्रदेश के धारवाड़ जिले में कादियूर नामक अग्रहार का उल्लेख है, जहां वेद, पुराण, न्याय तथा टीका आदि के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त दो सौ विद्वान रहा करते थे।[6] उच्च शिक्षा संस्था के रूप में यह अग्रहार विवेच्यकाल में प्रसिद्ध था, जहां वैदिक साहित्य का ही अध्ययन-अध्यापन नहीं होता था अपितु काव्य, व्याकरण, न्याय, दण्डनीति आदि लौकिक विषय भी पढ़ाए जाते थे। यहां एक अन्न सत्र का भी उल्लेख प्राप्त होता है जिससे भोजन का निःशुल्क वितरण होता था।[7]

---

1. वासुदेवउपाध्याय: पूर्वोक्त, पृ0306 पर उद्धृत ए0इं0, जिल्द् पृ049.
"सर्वादाय समेतश्च श्री अमरेश्वरे [illegible] ब्राह्मणेभ्य: भोजनादि निमित्तानि"

2. राजतरंगिणी: 8. 2444.

3. जरनल आफ इण्डियन हिस्ट्री, केरल यूनिवर्सिटी, पार्ट-3, पृ0 763.

4. सी0आई0आई0, जिल्द 4, भाग- 1, पृ0 28, 330, भाग-2, पृ0 396.

5. वहीं, पुण्यां नित्यं स्वर्ग गामिनी,

   विकल्यां तु कृमि भूत्वा।
   पितृभिः सहमज्जति ।।

6. ए0इं0, जिल्द 13, पृ0 317.

7. वहीं.

मैसूर के हसन जिले का आधुनिक अतिकिर ग्राम सवणपुर नामक अग्रहार अपने समय में एक महत्वपूर्ण शिक्षा संस्था के रूप में जाना जाता था। इस स्थान सेप्राप्त लेख से ज्ञात होता है कि यहाँ पर ब्राह्मणों को वेदशास्त्र एवं षड्दर्शन पढ़ने की सुविधा थी, तथा यहाँ का वातावरण निरन्तर वेदमंत्रों, तत्वविद्या के व्याख्यान, पुराणों के पाठ एवं स्मृति, रूपक या काव्य साहित्य के पठन, लेखन एवं चिन्तन से गुंजित एवं परिपूर्ण रहता था। यहाँ के विद्वान धर्म एवं नीति के व्याख्याओं के श्रवण में तल्लीन रहते थे।[1]

इसी प्रकार पुष्पपुरम् (गोदावरी जिले में आधुनिक पीठापुरम्) के अग्रहार ग्राम के ब्राह्मण छठीं शताब्दी में विद्वान और गुरु दोनों रूपों में विख्यात थे।[2] दक्षिण भारत में शिक्षा संस्था के रूप में घटिकाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है। कांची में एक ऐसी ही घटिका थी जो श्रेष्ठ ब्राह्मण विद्यार्थियों एवं विद्वानों का केन्द्र थी।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि घटिका और अग्रहार की शैक्षिक व्यवस्था एक जैसी ही रही होगी।

उपर्युक्त उद्धरणों से प्रमाणित होता है कि विवेच्यकाल में अग्रहार समाज में शिक्षा के प्रसार के प्रमुख स्रोत थे। राजसत्ता, सम्पन्न वर्ग एवं जन सामान्य के सहयोग से विभिन्न क्षेत्रों में विद्वान ब्राह्मणों को बसाकर समाज को सभ्य, सुसंस्कृत एवं शिक्षित करने के लिए सार्थक प्रयास अग्रहारों के माध्यम से किया जाता था।

---

1. एपिग्राफिया कर्नाटिका, भाग-5, पृ0 144.
2. ए0इं0, 18, 98.
3. ए0इं0, जिल्द 8, पृ0 31, मयूर शर्मा ने अपने गुरु के साथ कांची के घटिका के लिए प्रस्थान किया था।

मन्दिर

ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि विवेच्यकाल में हिन्दू मंदिर धार्मिक कृत्यों के साथ ही एक शिक्षण संस्था के रूप में भी विकसित हो गये थे। दक्षिण भारत के प्रालेखों से पता चलता है कि आलोच्य काल में वहां के देवालयों में बहुत सी पाठशालाएं चलती थी, यद्यपि इन विद्यापीठों के आन्तरिक संगठन के सम्बन्ध में इन लेखों से विशेष जानकारी नहीं मिलती है।[1] यद्यपि उत्तर भारत के लेखों में देवालयों में शिक्षण कार्य के अल्प उद्धरण ही प्राप्त होते है, क्यों कि उत्तर भारत के अधिकांश देवालय मुस्लिम आक्रमण से नष्ट-भ्रष्ट हो चुके है और उनके साथ सम्बद्ध लेखादि भी। औरंगजेब ने हिन्दू मंदिरों को इसलिए भी नष्ट-भ्रष्ट करा दिया था क्यों कि उसे सूचना मिली थी कि सिंध, मुल्तान और काशी के ब्राम्हण मंदिरों में पाठशालाएं चलाते है। इससे स्पष्ट होता है कि उत्तरभारत के देवालय भी शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे।[2]

राजतरंगिणी में एकवियमंदिर में चन्द्राचार्य के व्याकरण एवं महाभाष्य का अध्यापन करने का उल्लेख है।[3] विग्रहपाल चतुर्थ द्वारा स्थापित सरस्वती मंदिर में शिक्षण कार्य के प्रमाण है।[4] मंदिरों से सम्बद्ध शिक्षालयों के स्वरूप का ज्ञान ह्वेनसांग[5] के विवरणसे भी प्राप्त होता है। जिसमें इन मंदिरों के आचार्यों को धर्म दर्शन का ज्ञाता कहा गया है। राजा भोज द्वारा निर्मित देवी सरस्वती की प्रतिमा से युक्त "भोजशाला" शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था।[6]

----

1. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ0 59
2. वही, पृ0 107.
3. राजतरंगिणी, 1. 12.
4. दशरथ शर्मा : अर्ली चौहान डाइनेस्टी, पृ0 324
5. वाटर्स, भाग-2, पृ0178
6. प्रतिपाल भाटिया, द परमारास, पृ0 95.

इसके भवन से प्राप्त पत्थर की पाटूयो पर कूर्मशतक, पारिजात मंजरी एवं संस्कृत वर्णमाला और व्याकरण के नियमों से युक्त पंक्तियां उत्कीर्ण है जो उदयादित्य तथा नरवर्मन के काल की है।[1] 1174ई0 के (जबलपुर) अभिलेखमें कल्चुरी राजा जय सिंह के गुरू विमल शिव द्वारा शिवमंदिर और मठ के निर्माण का उल्लेख है जिससे सम्बद्ध एक विशाल अध्ययन कक्ष भी था।[2] 946ई0 के प्रतापगढ़ शिलालेख में चौरासी के हरिरीश्वर के मठ के साथ लगे हुये अनेक मंदिरों के लिये, दिये गये अनुदानों का उल्लेख है। इस लेख में सूर्य, दुर्गा, शिव आदि की स्तुति की गयी है।[3] चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपने यात्रावृत्तान्त में अनेक देवमंदिरों का उल्लेख किया है।[4] जिससे तद्-युगीन समाज में दक्षिण भारत की तरह ही उत्तर भारत में भी मंदिरों के धार्मिक एवं शैक्षिक महत्त्व प्रमाणित होता है।

1268ई0 के मलकापुरम् अभिलेख में विश्वेश्वर शम्भु द्वारा स्थापित अग्रहार में एक मंदिर विद्यापीठ, विद्यालय सत्र और चिकित्सालय के अवस्थित होने का उल्लेख प्राप्त होता है जिसमें आचार्य की नियुक्ति के लिए अर्हताएं और उसे दिया जाने वाला वेतन निर्धारित था। सम्बन्धित गांव के समस्त शैव समुदाय को यह अधिकार था कि यदि आचार्य कदाचरण करता है तो नये आचार्य को नियुक्त कर लिया जाय।[5] इससे तद्युगीन समाज में लोगों का अध्ययन-अध्यापन के प्रति जागरूकता का पता चलता है।

----

1. प्रतिपाल भाटिया, पूर्वोक्त, पृ095.

2. सी0आई0आई, जिल्द 4, भाग-1, पृ0 158.

3. गोपीनाथ शर्मा: राजस्थान इतिहास के स्रोत, पृ0 60.

4. वाटर्स, भाग-1, पृ0292, 296, 298, 314, 318, 322, 331, 361,; वही, - जिल्द 2, पृ0178. 186, प्रयाग में सौ से अधिक मंदिर, काशी में बीस देव मंदिर, कुड्य प्रदेश में सौ मंदिर, जालन्धर में पाशुपत सम्प्रदाय के तीन मंदिर, थानेश्वर में सौ मंदिर, और अहिछत्र के नव मंदिरों में तीन सौ पाशुपत सम्प्रदाय के समर्थक थे।

5. सी0आई0आई0, जिल्द 4, भाग-1, पृ0 159.

एन्नायिरम् देवालय-विद्यापीठ की प्रतिष्ठि ग्यारहवीं सदी के आरम्भिक काल में हुई थी। यह अर्काट जिले के दक्षिणी भाग में अवस्थित था। इस देव मंदिर में 340 विद्यार्थियों के अध्यापन की व्यवस्था की गयी थी, जिसमें 75 ऋग्वेद, 75 कृष्ण यजुर्वेद, 40 सामवेद, 20 शुक्ल यजुर्वेद, 10 अथर्ववेद, 10 बौधायनधर्म सूत्र, दस वेदान्त, 25 व्याकरण, चालीस रूपावतार और 35 प्रकार मीमांसा पढ़ते थे। इसमें सोलह अध्यापक थे। शिक्षालय को स्थानीय ग्रामीण जनता चलाती थी।[1]

चिङ्गलपट्टु जिले के तिरुवोरियूर नामक स्थान में 13वीं शताब्दी में व्याकरण की शिक्षा के लिए स्थानीय शिवालय के बगल में एक विशाल भवन में शिक्षण कार्य सम्पादित होता था।[2] 10वीं शताब्दी में धारवाड़ जिले के भुवनेश्वर मंदिर का उल्लेख है जिसे विद्यार्थियों को निःशुल्क अध्यापन और भोजन देने के लिए दो सौ एकड़ भूमिदान में मिली थी। दो सौ के लगभग विद्यार्थी यहाँ शिक्षा प्राप्त करते थे।[3] इसी प्रकार हैदराबाद राज्य में नगई नामक स्थान पर 11वीं शताब्दी के एक संस्कृत विद्यापीठ में दो सौ विद्यार्थियों को वैदिक साहित्य, दो सौ को स्मृतियों, सौ को महाकाव्य तथा पचास को दर्शन की शिक्षा दी जाती थी। इस संस्था के पुस्तकालय में छः पुस्तकालयाध्यक्षों के होने का भी उल्लेख किया गया है।[4]

----

1. एनुअल रिपोर्ट्स आफ साउथ इण्डिया, 1918, पृ0 145. :, अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ0 102.

2. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ0 104.

3. ए0इं0, जिल्द 4, पृ0 355.

4. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ0 105-106.

बीजापुर जिले मनगोली[1] नामक स्थान पर एक पंडित द्वारा कौमार, व्याकरण की पाठशाला चलाने का उल्लेख है। उक्त पंडित को बीस एकड़ भूमि दान में प्राप्त थी। 1075 ई० में बीजापुर के ही एक देवालय में संयासियों तथा मीमांसा के आचार्य योगेश्वर पंडित के शिष्यों की शिक्षा दीक्षा तथा भोजन के प्रबन्ध के लिए 1200 एकड़ भूमि दान में मिली थी।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि यह विद्यापीठ बहुत विशाल रहा होगा।

वीर राजेन्द्र चोल के 1067 ई० के तिरूमुक्कूदल अभिलेख में स्थानीय महाविष्णु मंदिर के आय-व्यय के लेखों का विस्तृत उल्लेख है जिसमें एक विद्यालय तथा एक चिकित्सालय की व्यवस्था थी। यहां केवल दो वेदों।- ऋक् और यजुष तथा व्याकरण में "रूपावतार" का अध्ययन-अध्यापन होता था। वेदों के पठन-पाठन करने वाले दस विद्यार्थियों पर एक अध्यापक और व्याकरण के पठन-पाठन करने वाले बीस विद्यार्थियों पर एक अध्यापक की व्यवस्था थी। यह शिक्षालय अपेक्षाकृत छोटा था।[3] तंजौर जिले के पुन्नवयिल नामक स्थान में भी स्थानीय देवालय से सम्बद्ध एक व्याकरण विद्यालय की जानकारी प्राप्त होती है जिसे 400 एकड़ भूमिदान में मिली थी। इस विद्यापीठ में विद्यार्थियों के भोजन एवं आच्छादन के लिए एन्नायिरम् विद्यापीठ से अधिक दान प्राप्त होने का उल्लेख है।[4] इससे विद्यापीठ की आर्थिक सम्पन्नता एवं विद्यार्थियों की पर्याप्त संख्या का पता चलता है।

---

1. ए०ई०, जिल्द 5, पृ० 22.
2. इ०ऐं०, भाग - 10, पृ० 129-31.
3. नीलकंठ शास्त्री: चोल वंश, पृ० 489.
4. एनुअल रिपोर्ट्स आफ साउथ इंडिया, 1913 ई०, पृ० 109-10.

चिङ्गलपट्ट के शिक्षालय की स्थापना ग्यारहवीं सदी में वेंकटेश्वर के मंदिर में हुई थी। शिक्षालय में साठ विद्यार्थियों के आवास और भोजन का प्रबन्ध किया गया था। इनमें से दस ऋग्वेद के, दस यजुर्वेद के, दस पंचरात्रदर्शन के, बीस व्याकरण के और तीन शैवागम के विद्यार्थी थे। यहाँ वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम के महात्मा भी रहते थे।[1] 1158ई0 में शिमोगा जिले तालगुण्ड नामक स्थान के प्राणेश्वर देवालय की ओर से भी एक पाठशाला चलाए जाने की जानकारी मिलती है जिसमें 48 विद्यार्थियों के लिए भोजन और आवास का प्रबन्ध था। इसमें विद्यार्थी ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, प्रभाकर, मीमांसा वेदान्त, भाषाशास्त्र तथा कन्नड़ का अध्ययन करते थे। छात्रावास की पाकशाला के प्रबन्ध के लिए दो रसोइये के नियुक्ति का भी उल्लेख मिलता है।[2] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि इन देव शिक्षालयों में आवास एवं भोजन की समुचित व्यवस्था रहती थी।

दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी[3] में बम्बई प्रान्त के बीजापुर जिले में सालोत्गी के मंदिर में त्रयी पुरुष की प्रतिष्ठा राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के मंत्री नारायण के द्वारा की गयी थी।[4] इसका प्रधान कक्ष जो एक शिक्षालय था, 945ई0 में बनवाया गया था। विद्यालय में अनेक जनपदों से विद्यार्थी आते थे और उनके रहने के लिए सत्ताइस छात्रावास बने हुए थे।[5] संस्कृत का यह विद्यापीठ वैदिक शिक्षा का एक प्रसिद्ध केन्द्र था।[6] सालोत्गी विद्यापीठ के

---

1. ए0इं0, भाग- 21, संख्या 220.
2. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ0 106.
3. वहीं, पृ0 101.
4. रामजी उपाध्याय: प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ0 169.
5. वहीं.
6. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ0 101.

छात्रावासों में प्रकाश के निमित्त दीपकों की व्यवस्था के लिए बारह निवर्तन भूमि (सम्भवत 60 एकड़) दान में मिली थी। विद्यार्थियों के भोजन और आवासीय व्यवस्था के लिए 500 निवर्तन भूमि का दान प्राप्त हुआ था। प्रधान आचार्य के वेतन के निमित्त पचास निवर्तन भूमि दी गयी थी। इस देवालय विद्यापीठ को स्थानीय जनता ने प्रत्येक विवाह के अवसर पर पाँच रुपया, उपनयन के अवसर पर ढाई रुपया तथा मुण्डन पर एक रुपया देने का निश्चय किया था। इसके अतिरिक्त किसी भी भोज के अवसर पर ग्रामीण अधिक से अधिक संख्या में विद्यार्थियों और अध्यापकों को भोजन कराते थे।[1] उत्तर काल के लेखों से ज्ञात होता है कि नारायण द्वारा स्थापित विद्यापीठ का भवन जब क्षतिग्रस्त हो गया तो एक स्थानीय व्यापारी ने उसका पुनर्निर्माण करवाया था।[2] इस प्रकार आलोच्य काल में राजसत्ता एवं सामान्य जन का शिक्षा और उसके संगठन में सहयोग करने का अनुपम उदाहरण देखने को प्राप्त होता है।

नीलकण्ठ शास्त्री के अनुसार सामान्यतया साधारण शिक्षा रामायण, महाभारत और पुराणों आदि की व्याख्या द्वारा प्रायः मंदिरों तथा सार्वजनिक स्थानों पर हुआ करती थी।[3] चोल कालीन अभिलेखों से इस तथ्य की

---

1. नारायणोऽभिधानेन नारायण इवापरः ।
   प्रधानः कृष्णराजस्य मंत्री सन्सन्धि विग्रहे ।।
   तेनेयं कारिता शाला श्री विशाला मनोरमा ।
   अत्र विद्यार्थिनः संति नानाजनपदोद्भवा ।।
   शाला विद्यार्थिसंघाय दत्तवान्भूमिमुत्तमाम् ।
   मान्या निवर्तनानां तु पंचभिश्च शतैर्मिताम ।।
   निवर्तनानि दीपार्थं मान्यानि द्वादशैव च ।
   पंच पुष्पाणि देयानि विवाहे यत्पुरोदितम् ।।
   केनचित्कारणेनेद कर्तव्ये द्विभजने ।
   भोजयेत् यथाशक्त्यपरिवत्परिवज्जनम् ।।
   ए०इं०. जिल्द 4, पृ० 60.
2. अल्तेकर : पूर्वोक्त, पृ० 102.
3. नीलकण्ठ शास्त्री : चोलवंश, पृ० 486-87.

पुष्टि होती है कि मंदिरों में पूजा के समय प्रतिदिन वेदों का पाठ विशेष रूप से नियुक्त ब्राम्हण ही करते थे।[1] साथ ही मंदिरों में नाटकों के अभिनय तथा काव्य पाठ का भी उद्धरण प्राप्त होता है।[2] इसी प्रकार कभी-कभी सम्प्रदाय विशेष की दृष्टि से दर्शन के मूल तत्त्व -शिव धर्म सोम सिद्धान्त और रामानुज भाष्य आदि की व्याख्या की जाती थी।[3] इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि विवेच्य काल में देवालय विद्यापीठ हिन्दू संस्कृति के प्रचार-प्रसार एवं व्याख्या के केन्द्र थे।

उच्च शिक्षा केन्द्रों के रूप में हिन्दू देवालयों का विकास 10वीं शताब्दी से ही प्रारम्भ होता है। यह भी सम्भव है कि हिन्दू मंदिरों ने यह कार्य कुछ पहले ही आरम्भ कर दिया हो किन्तु इसकी पुष्टि के लिए अभी कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है।[4] 18वीं शताब्दी तक दक्षिण भारत के लगभग सभी बड़े देवालयों में संस्कृत पाठशाला अवश्य चलायी जाती थी।[5]

विवेच्य काल के मंदिरों में विद्यापीठों की स्थापना तद्युगीन समाज के बदलते प्रतिमान की ओर संकेत करता है। सम्भवतः बौद्ध विहारों को विश्वविद्यालय में बदलता देखकर ही हिन्दुओं के मन में भी मंदिरों में पाठ-शालाएं खोलने का विचार आया होगा। अतः मंदिरों में खोले गये विद्यालय बौद्ध विश्वविद्यालयों की प्रतिक्रिया में ही स्थापित किये गये थे।[6] ऐसा

----

1. नीलकण्ठ शास्त्री : पूर्वोक्त, पृ0 497.
2. वहीं. पृ0 514.
3. वहीं पृ0 487.
4. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ0 101.
5. रिपोर्ट आफ मद्रास कमेटी एजुकेशन कमीशन 1882. पृ0 1.
6. अलतेकर :पूर्वोक्त, पृ0 58.

प्रतीत होता है कि हिन्दुओं के बौद्धों से शैक्षिक प्रतिस्पर्धा का उद्देश्य तद्युगीन समाज पर अपनी रीति-नीति द्वारा पकड़ बनाये रखने के लिए रही होगी ।

मठ

हमारे अध्ययन काल ।700ई०से ।200ई०। में शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत मठों का, शिक्षा संस्थाओं के रूप में विकास एक नवीन परम्परा का द्योतक है।आलोच्यकाल में विभिन्न सम्प्रदाय के आचार्यों के मठों में ऐसे छोटे-छोटे विद्यालय चलते थे जिनमें उच्च शिक्षा की व्यवस्था थी ।[1] निजी शिक्षण संस्थाएं चलाने वाले अध्यापक भी इन संस्थाओं में ज्ञान की ज्योति जलाये रखने में सहयोग करते थे ।[2] मठों के अन्तर्गत चलने वाली पाठशालाओं में निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी ।[3] इस प्रकार के शिक्षा मठों को राजाओं द्वारा संरक्षण प्राप्त था ।[4] मठों का विस्तार एवं इनमें शिक्षण कार्य सम्पादित होने के उद्धरण सम्पूर्ण भारत से प्राप्त होते है।मठ आठवीं शताब्दी में विशेष रूप से लोकप्रिय हुए।[5] स्वभावतः मठ उन स्थानों में अधिक उपयोगी हुए जहां तीर्थयात्री एकत्र होते थे और

---

1. अलतेकर:पूर्वोक्त,पृ० 56.
2. वही.
3. वही.पृ० 62.
4. सत्यपाल नारंग: दण्याश्रम काव्य,ए लिटरेरी एण्ड कल्चरल स्टडी. पृ० 208.
5. रोमिला थापर: भारत का इतिहास,पृ० 137.

जहाँ शास्त्रार्थ अधिक प्रभावी हो सकते थे।[1] यह विश्रामगृह भोजन केन्द्र तथा शिक्षा केन्द्र का समुच्चय था जो अप्रत्यक्ष रूप से उस मत का प्रचार करता था, जिससे वह सम्बन्धित होता था।[2] मठों में औपचारिक शिक्षा का प्रबन्ध था।[3]

हलायुध कोष में मठ का तात्पर्य प्रतिस्थान, यतियों का स्थान, छात्रादि-निलय और विद्यार्थी शाला से है।[4] हेमचन्द्र ने द्व्याश्रय काव्य में उन विद्या-मठों का उल्लेख किया है जिसमें सन्यासी रहते थे।[5] अभिधान चिन्तामणि में मठ का अर्थ संयासियों और विद्यार्थियों के रहने के स्थान से है।[6] अमरकोष तथा वैजयन्ती में इसका अर्थ उस स्थान से लिया गया है जहाँ विद्यार्थी निवास करते थे।[7] अथातिलक गणि के अनुसार विद्यामठ एक प्रकार की संस्था थी जहाँ सम्पन्न लोग पुण्य प्राप्ति की इच्छा से शिक्षकों और विद्यार्थियों को वस्त्रादि प्रदान करते थे।[8] इस प्रकार संकुचित अर्थों में मठ संयासियों के ठहरने के स्थान थे किन्तु विस्तृत अर्थों में इसका आशय एक ऐसी पूर्ण प्रतिष्ठित संस्था से है जिसमें शिक्षक विद्यार्थियों को धर्म एवं विद्याओं में उपदेश देते थे।[9]

---

1. रोमिला थापर: भारत का इतिहास, पृ० 137.
2. वहीं.
3. वहीं, पृ० 117.
4. हलायुध कोष, पृ० 506.
5. द्व्याश्रय काव्य, 1.7.
6. अभिधान चिन्तामणि, 4.60. पृ० 245.
7. डी०डी० कौशाम्बी: दि कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन आफ एन्शियेन्ट इन -
   हिस्टारिकल आउट लाइन, पृ० 196,
8. दशरथ शर्मा: अर्ली चौहान डायनेस्टी, पृ० 324.
9. वासुदेव उपाध्याय: पूर्वोक्त, पृ० 117.

विवेच्य युग में शंकराचार्य द्वारा मठों को शिक्षा संस्थाओं के रूप में स्थापित करने के प्रमाण प्राप्त होते है।[1] उन्होने उत्तर में केदारनाथ, दक्षिण में श्रृंगेरी, पूरब में पुरी और पश्चिम में द्वारका नामक प्रसिद्ध मठों की स्थापना किया था।[2] हिरण्यमठ, कौडियम०, पंचम० आदि अन्य प्रमुख संस्थाएं इस कोटि की है।[3] अल्बेरूनी ने काशी में शैव मठों का उल्लेख किया है।[4] प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा भी शिक्षा संस्थाओं को निर्माण कराने के उद्धरण प्राप्त होते है। अपनी सेवा निवृत्ति के पश्चात कंदर्प ने काशी के पूर्वी क्षेत्र में मठों का निर्माण कराया था।[5] 1155ई० के कल्चुरी वंश के भेड़ाघाट शिलालेख में शिवमंदिर तथा साथ में एक मठ का उल्लेख है। यह मठ एक व्याख्यानशाला तथा कक्षों की दो पंक्तियों से युक्त था। इस मठ युक्त मंदिर के निमित्त दो गांव दान में मिले थे जिसकी आय से उसकी व्यवस्था होती थी। मठ के व्यवस्थापक पाशुपत आचार्य रूद्रराशि थे।[6] ऐतिहासिक प्रमाणों से काश्मीर में अनेक शैक्षिक मठों का उल्लेख प्राप्त होता है। जहां दूरस्थ विद्यार्थी विशेष रूप से बने छात्रावासों में रहते थे[7] और अध्ययन करते थे।

----

1. श्री रामजी उपाध्याय: पूर्वोक्त, पृ० 171,
2. कृष्णचन्द्र श्रीवास्तव: प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पृ0852.
3. रामजी उपाध्याय: पूर्वोक्त, पृ0 172.
4. सचाऊ, जिल्द- 1, पृ0 173.
5. राजतरंगिणी : 7. 1010.
6. सी0आई0आई0: जिल्द 4, भाग -1, पृ0 320.
7. राजतरंगिणी: 3.9.

नीलकण्ठ शास्त्री के अनुसार[1] मध्यकालीन हिन्दू धर्म ने दक्षिण भारत को दो महान उपहार मंदिर और मठ दिये। चोलों के समय इनका क्रमिक विकास और अनुकूल हुआ जिससे मठ एवं मंदिर के प्रति सामान्य जन की कल्पना शक्ति और सम्पन्न वर्ग की दान शीलता आकृष्ट हुई।[2] तंजौर जिले के तिरुविडैक्कलि से 1229 ई० के अभिलेख से ज्ञात होता है कि मालाबार प्रदेश से आये हुए वेदान्त के ब्राम्हण विद्यार्थियों के लिए स्थानीय मठ में निःशुल्क भोजन की व्यवस्था का उल्लेख है।[3] इन विद्यार्थियों में विद्वता और वैशिष्ट्य के लिए पुरस्कृत करने के लिए धन की व्यवस्था कीगयी थी।[4] तैलद्वितीय ने शैव मठ के गुरु महेन्द्र सोमदेव को मठ के रखरखाव एवं व्यवस्था हेतु कल्लवान करवा दिया था।[5] चालुक्य राजा द्वारा एक मठ के सामान्य खर्च के भुगतान हेतु दान दिया था।[6] 1179 ई० के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि त्रिपुरान्तानिक देवदास ने पुवूर स्थित मठ की व्यवस्था हेतु दो भूमि खण्ड दान में दिये थे।[7] अभिलेखों में मठों के सन्दर्भ में अनेक उद्धरण प्राप्त होते है जो तमिल भाषा में धार्मिक तथा लौकिक शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे।[8] और मठों में अलग-अलग आचार्यों के निर्देशन में प्रभाकर मिमांसा तथा व्याकरण जैसी ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की शिक्षा दी जाती थी।[9] तिरुवोरियुर के मठ में महन्तों की उपाधि"चतुरानन"होती थी।[10]

---

1. नीलकण्ठ शास्त्री:पूर्वोक्त,पृ0 492.
2. वही.
3. वही .पृ0 490.
4. वही.
5. द जरनल आफ द बिहार रिसर्च सोसाइटी,जिल्द 46. भाग-1-4. पृ0 126-27 1970:.ए0ई0,जिल्द 16.पृ0 42-43.
6. वही. ए0ई0,15,पृ0 92-93.
7. वही. ए0ई0,जिल्द 12,पृ0 337.
8. नीलकण्ठ शास्त्री: पूर्वोक्त, पृ0 490.
9. वही. पृ0 487.
10. वही, पृ0 502.

कथासरित्सागर में विभिन्न देशो के ब्राह्मणो का मठो में निवास कर जीवन व्यतीत करने का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] 1169ई0 के मेनाल दुर्ग के उत्तरी द्वार स्तम्भ लेख के अनुसार चौहान राजा पृथ्वीराजद्वितीय ने मेनाल में एक मठ की स्थापना करवाया था। जिसे लेख में धर्मज्ञ तथा विचारशील कहा गया है।[2] इसी प्रकार उड़िसा के राजा वैद्यनाथ द्वारा एक मठ निर्माण करवाने की जानकारी प्राप्त होती है।[3] कल्चुरी एवं गुजरात के चालुक्य राजाओ द्वारा शिक्षा को इस प्रकार का प्रश्रय मठ जैसे प्रतिष्ठानो द्वारा प्राप्त था।[4] आलोच्यकाल में भूमिदान=ग्रहिता मठ एवं मंदिर भी थे। अन्य प्रकार के दान भी मठो-मंदिरो को प्राप्त होते थे। मठो एवं मंदिरो के अधिकारो व सम्पत्ति की इस प्रकार वृद्धि हुई।[5]

हमारे अध्ययनकाल में बौद्ध मठ न केवल भारत अपितु पर राष्ट्रो में भी शिक्षा केन्द्रो के रूप में अपनी ख्याति अर्जित कर चुके थे। यद्यपि सातवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म अवनति पर था फिर भी बौद्धो के देश भर में अधिसंख्य विद्यामठ थे। बारह सौ ईस्वी तक बिहार और बंगाल में बौद्ध धर्म अपना वर्चस्व बनाये हुए था।[6] ह्वेनसांग के अनुसार तमसावन के भिक्षु अशोक की सभा में आमंत्रित होते थे। उसके समय में उक्त मठ में सर्वास्ति वादी

----

1. कथासरित्सागर: खण्ड-1, पृ0 329-345.

2. गोपीनाथ शर्मा: राजस्थान इतिहास के स्रोत, पृ0 93.

3. जरनल आफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी, पृ0 124.

4. ए0इं0, 2, पृ0 7. 17.

5. इंडियन हिस्टारिकल रिव्यु, जिल्द 1, भाग=1. पृ0 31. 1974.

6. अलतेकर: पुर्वोक्त, पृ0 100

शाखा के तीन सौ भिक्षु रहते थे।[1] ह्वेनसांग ने मगध में अनेक मठों का उल्लेख किया है।[2]

ह्वेनसांग[3] और इत्सिंग ने[4] मगध क्षेत्र में तीलडक नामक बौद्ध म० का उल्लेख किया है। इत्सिंग के समय में ज्ञानचन्द्र नाम का एक बौद्ध आचार्य नीतिशास्त्र का प्रसिद्ध विद्वान था।[5] ह्वेनसांग ने मालवा में सौ बौद्ध विहारों का उल्लेख किया है।[6] जिसमें भिक्षु रहते थे। थानेश्वर के बौद्ध विहारों में सात सौ के लगभग हीनयान सम्प्रदाय के भिक्षु थे।[7]

ह्वेनसांग ने कलिंग स्थित दस बौद्ध मठों का उल्लेख किया है जिसमें 500 महायान सम्प्रदाय के विद्यार्थी रहते थे।[8] मथुरा के लगभग बीस बौद्ध मठों में हीनयान और महायान सम्प्रदाय के दो हजार विद्यार्थी रहते थे।[9] पाटलिपुत्र के निकट [10]वैतमन बौद्ध विहार के पुस्तकालय में विभिन्न विद्याओं के ग्रन्थ संकलित थे।[11] जिससे उक्त विहार का शैक्षणिक महत्व का परिज्ञान होता है।

मंदिर और विहार उच्च शिक्षा से सम्बन्धित ऐसे ज्ञान के केन्द्र थे, जहाँ विभिन्न विद्याओं से सम्बन्धित हस्त लिखित साहित्य पीढ़ी दर पीढ़ी

---

1. वाटर्स, ह्वेनसांग, भाग-1, पृ0 294.
2. वहीं, भाग 2, पृ0 100.
3. बील, लाइफ आफ ह्वेनसांग, भाग-2, पृ0 102-3.
4. तकाकुसु प्रकाश, बुद्धिस्ट प्रैक्टीसेज इन इण्डिया, पृ0 184.
5. वही.
6. वाटर्स, ह्वेनसांग, भाग-2, पृ0 242.
7. वहीं, भाग-1, पृ0 314.
8. वाटर्स, जिल्द -2, पृ0 198.
9. वहीं, जिल्द -1, पृ0 301.
10. एस0के0दास : एजुकेशन सिस्टम आफ द ऐन्शियन्ट हिन्दूज, पृ0341.
11. वाटर्स, जिल्द-1, पृ0 386.

परिमाण और विभिन्नता में बदता जाता था।[1]

हमारे अध्ययनकाल में जैन मठ भी अन्य सम्प्रदायो के मठों की भांति तद्युगीन समाज को अपनी शिक्षा सेवा प्रदान करते थे।हेम चन्द्र ने ।12वीं-सदी।गुजरात में विद्यामठों का उल्लेख किया है जिन्हे राज्य से भोजन,वस्त्र आदि का अनुदान प्राप्त होता था।[2]गणधरसारध शतक में एक जैन मठ का वर्णन है जिसमें अनाथ एवं जन सामान्य के बालक शिक्षा ग्रहण करते थे।[3] जयानक ने अजमेर के प्रत्येक कोनो में शिक्षा से सम्बन्धित अनेक जैन मठों का उल्लेख किया है।[4] काशी के केदार जैन मठ में भी अध्ययन -अध्यापन होता था।[5] कुमार पाल ।12वीं सदी। ने शिक्षा से सम्बन्धित अनेक जैन मठों को स्थापित कराया था।[6]शिकारपुर के चिक्कमगाड़ी अभिलेख से ज्ञात होता है कि कदम्ब राजा बप्पदेव ने एक जैन मठ को उसके रख-रखाव के लिए दान दिया था।[7] इस अभिलेख में स्थानीय प्रशासक द्वारा उक्त दान की पुष्टि भी की गयी थी।[8] जैन मठों में विविध विद्याओं के अध्ययन -अध्यापन का वर्णन मिलता है।[9]इन जैन शिक्षा मठों के लिए एक आदर्श आचार संहिता के पालनार्थ कड़े निर्देश का उल्लेख प्राप्त होता है।[10]

---

1. नीलकण्ठ शास्त्री : पूर्वोक्त, पृ0 487.
2. वासुदेव उपाध्याय: पूर्वोक्त,पृ0 404.
3. डा0वी0एन0एस0यादव:पूर्वोक्त,पृ0 403 पर उद्धृत अपभ्रंश काव्यत्रयी भूमिका,पृ0 15.
4. पृथ्वीराज विजय: 9.24.
5. उक्ति-व्यक्ति प्रकरण,29,7,23.
6. एस0के0दास : एजुकेशनल सिस्टम आफ द ऐन्शेन्ट हिन्दूज, पृ0 339.
7. ज0बि0रि0सो0-जिल्द 46,भाग-1-4,पृ0 127. 1970
8. वही.
9. अपभ्रंश काव्यत्रयी,पृ0 17.
10. वही,पृ0 10,11,13,17.

इस प्रकार स्पष्ट है कि विवेच्य युग में जैन मठों का शिक्षा संस्था के रूप में प्रभाव होते हुए भी गुजरात और राजस्थान में ये अधिक प्रभावी थे। और कभी भी बौद्ध और हिन्दू मठों के प्रचार-प्रसार के समानान्तर अपने को स्थापित नहीं कर सके।

ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि मठों में प्रश्नों एवं प्रति प्रश्नों का हल निकालने के लिए विविध विषयों पर विषय मर्मज्ञों के व्याख्यान होते थे।[1] इस प्रकार देश के विभिन्न हिस्सों से लोग इस महत्वपूर्ण शिक्षण संस्था में उप स्थित होते थे और एक दूसरे से मिलते थे।[2] मठों में प्रवेश के लिए प्रतियोगितात्मक परीक्षाएं भी होती थी।[3]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह प्रमाणित होता है कि विवेच्यकाल में परम्परागत वैदिक शिक्षण संस्थाओं का स्थान मठ और मंदिरों ने ले लिया था। यह प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण घटना है। यद्यपि आलोच्यकाल में सम्पूर्ण भारत में मठों और मंदिरों में शिक्षण कार्य होता था तथापि उनकी शैक्षणिक प्रभावक क्षमता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मुख्यतया दक्षिण भारत में जो शैक्षिक महत्व देवालय विद्यापीठों का था वहीं उत्तर भारत में मठों का था। फिर भी कुछ मठ अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुके थे। जिससे देवालय विद्यापीठों की अपेक्षा मठों का प्रचार-प्रसार अधिक होने का परिज्ञान होता है।

----

1. ब्रजेन्द्रनाथ शर्मा: सोशल एण्ड कल्चरल हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया, पृ0 48.

2. वहीं.

3. नीलकण्ठ शास्त्री: पूर्वोक्त, पृ0 487.

कश्मीर

प्राचीन काल से ही कश्मीर धर्म और शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था।[1] यहां शैव तथा बौद्ध धर्म का अत्यधिक प्रचार था।[2] कनिष्क ने पहली सदी ईस्वी में चतुर्थ बौद्ध संगीति का आयोजन कश्मीर (कुण्डलवन) में ही किया था। कथासरित्सागर में वल्लभी के बाद कश्मीर को प्रमुख शिक्षा केन्द्र बतलाया गया है।[3] यहां के आचार्य प्रतिभा, गुण और ज्ञान के लिए प्रसिद्ध थे।[4] अल्बेरूनी ने कश्मीर का वर्णन हिन्दू विद्या के श्रेष्ठतम केन्द्र के रूप में किया है।[5] यहां चतुर्दश विद्याओं के पारंगत विद्वान निवास करते थे।[6] कथासरित्सागर[7] और देशोपदेश[8] से ज्ञात होता है कि बंगाल तथा पाटलिपुत्र जैसे दूरस्थ स्थानों से विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने कश्मीर जाते थे। वस्तुतः कश्मीर की शैक्षिक अभिवृद्धि ऐसी हो गयी थी कि देश-विदेश के लोग ज्ञान सम्पन्नता का स्थल मानकर आकृष्ट होने लगे थे। साहित्य और वेदान्त का तो कश्मीर मूल केन्द्र माना जाता था।[9] कल्हण के समय कश्मीर बौद्धधर्म का मुख्य केन्द्र बना हुआ था। बौद्ध विद्या का ख्याति प्राप्त केन्द्र होने के कारण अनेक चीनी यात्रियों ने यहां भ्रमण किया और यात्रा वृतान्त लिखा।[10]

---

1. जयशंकर मिश्र: ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ0 176.
2. आर0के0मुकर्जी: ऐन्शियन्ट इंडियन एजुकेशन, पृ0 510.
3. वाचस्पति द्विवेदी: पूर्वोक्त, पृ0 177 पर उद्धृत कथासरित्सागर,, 10.9.21
4. बील: लाइफ आफ ह्वेनसांग, भाग-2, पृ0 71.
5. अल्बेरूनीज इण्डिया, 1, पृ0 173.
6. श्री हर्ष: नैषध चरितम्, 16/131.
7. ओसन आफ स्टोरीज, भाग-5, पृ0 178-79.
8. देशोपदेश, अध्याय- 5.
9. वी0एन0लुनियो: भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, पृ0 473.
10. आर0के0मुकर्जी: पूर्वोक्त, पृ0 510.

तिब्बत के भी बहुत से विद्यार्थियों का कश्मीर में आकर अध्ययन करने का उल्लेख प्राप्त होता है।[1]

हमारे अध्ययनकाल में ।700ई0 से 1200ई0। पश्चिमोत्तर भारत में मुस्लिम आक्रमण कारियों के बार-बार आक्रमण से सुरक्षित और शान्ति प्रिय जीवन निर्वाह के लिए वहाँ के विद्वानों और शिक्षाविदों ने कश्मीर और काशी में शरण ली, जिससे वहाँ की शिक्षा में आशातीत वृद्धि हुई। कल्हण ने मध्यदेश के अतिरिक्त सिन्धु और द्रविड़ देश के ब्राम्हणों को भूमिदान देकर बसाएं जाने का उल्लेख किया है।[2] कश्मीर की शैक्षिक सम्पन्नता इसी बात से स्पष्ट हो जाती है कि वहाँ के प्रतिभा सम्पन्न विद्वानों ने साहित्य और संस्कृति सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। काव्य मीमांसा में कश्मीर के कवियों की प्रशंसा की गयी है।[3] कश्मीर के विद्या केन्द्रों में विविध विद्यायों दर्शन, साहित्य, न्याय, ज्योतिष, आदि का अध्ययन होता था। हरिविजय के[4] लेखक आचार्यरत्नाकर ।800ई0के लगभग।, "शिशांक" के रचयिता शिवस्वामी ।-858ई0से 885ई0के लगभग।, भारत मंजरी, रामायण मंजरी, वृहत्कथा मंजरी, "बोधिसत्वावदान के कर्ता अद्भुत कथाकार क्षेमेन्द्र ।1050ई0के लगभग।, कला-विलास, चारूचर्या, चतुर्वर्ग संग्रह, नीतिकल्पतरू, समय मातृका आदि ग्रन्थों के लेखक सोमेन्द्र, अलंकार शास्त्र के आचार्य रूय्यक ।1130ई0के लगभग।, राजतरंगिणी के रचनाकार इतिहासविद् कल्हण ।1150ई0के लगभग।, श्री कण्ठचरित के कर्ता मंखक ।1170ई0के लगभग।वेदान्त ग्रन्थ "खण्डन खण्डखाद्य" महाकाव्य नैषधीय चरित के लेखक श्री हर्ष आदि कश्मीर के ही थे।[5]

---

1. राहुल सांकृत्यायन: तिब्बत में अभ्यास, पृ0 215.
2. राजतरंगिणी : 8.2444.
3. काव्य मीमांसा, पृ0 83.
4. जयशंकर मिश्र: ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ0 177 पर उद्धृत कीथ:ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ0 134.
5. जयशंकर मिश्र : ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ0 177.

विवेच्ययुग में कश्मीर की शैक्षिक संस्थाओं के प्राप्त ऐतिहासिक उद्धरणों से भी तद्युगीन समाज में कश्मीर की ख्याति प्राप्त शिक्षा केन्द्र होने की पुष्टि होती है। ग्यारहवीं शताब्दी तक प्रसिद्ध विद्वानों के कारण कश्मीर की शिक्षण संस्थाएं इतनी प्रसिद्ध हो गयी थीं कि सुदूर देश बंगाल के छात्र भी स्वाध्ययन के लिए यहां आने लगे।[1] यशस्कर देव द्वारा आर्य देशीय विद्यार्थियों के लिए मठ स्थापित किये जाने का उल्लेख है।[2] यशस्कर देव ने स्वयं स्थापित एक मठ के मठाधिपति को मुद्रालय एवं अन्तःपुर के अतिरिक्त छत्र एवं चामर से सुशोभित राज श्री प्रदान की थी।[10] राजतरंगिणी में उल्लेख है कि नोण नामक व्यापारी द्वारा द्विजों के निवास के लिए नोण मठ का निर्माण करवाया गया था।[3] अवन्तिवर्मा के मंत्री शूर ने "शूरमठ"[4] तथा शूर के पुत्र रत्नवर्धन द्वारा "भूतेश्वरहर" नामक[5] मठ के निर्माण का उल्लेख मिलता है।[6] ललितादित्य द्वारा निर्मित "जयेन्द्र तथा" गजविहार "इनमें प्रसिद्ध थे।[7] ह्वेनसांग के[8] यात्रा वृतान्त से ज्ञात होता है कि जब वह कश्मीर जा रहा था तो उसने रास्ते में अनेक मठ देखे तथा एकरात्रि जयेन्द्र मठ में भी रहा था। वह कश्मीर में दो वर्ष तक अनेक सूत्रों और शास्त्रों का अध्ययन किया और कई बौद्ध विहारों के दर्शन भी किये। ह्वेनसांग द्वारा कश्मीर में अनेक शिक्षा मठों के उल्लेख का पूर्णतः समर्थन राजतरंगिणी से भी हो जाता है।[9] राजा

---

1. के0एम0 मुन्शी: दि स्ट्रगल फार एम्पायर, भाग-5, पृ0 511. देशोपदेश, अध्याय-6. तिलक मंजरी-"क्षणं मात्र प्रवृत्तयश्चछा लाप रमणीया सुतिष्ठन्तीषु विद्यामठ व्याख्यान मण्डलीषु," पृ0 55.
2. राजतरंगिणी : 6. 87.
3. वही. 4. 12.
4. वही. 5. 38.
5. वहीं. 5. 40.
6. वही. 3. 460.
7. आर0के0मुकर्जी: पूर्वोक्त, पृ0 511.
8. वाटर्स. जिल्द-1, पृ0 265.
9. राजतरंगिणी: 6. 186. 7. 120, 150, 180, 182, 8. 3354, 3359. 6. 99, "स राजधान्या निर्गत्य मर्तु जिमठ भागौ, 6. 102-3, 8. 3350, 2408, 7. 214, 8. 23, 2401, 8. 2440, 8. 2422, 7. 149. आदि अनेक उदाहरण है।
10. राजतरंगिणी, 6. 88.

जयसिंह के शासन काल में तो §1128ई0 से 1155ई0§ मठो के लिए स्थायी दान की भी व्यवस्था कर दी गयी थी ।

साहित्यिक साक्ष्यो में कश्मीर के विद्यामठों में दुर्व्यवस्था का विवरण प्राप्त होता है।[1] राजतरंगिणी में एक बौद्ध भिक्षु द्वारा स्त्री अपहरण का उल्लेख मिलता है।[2] क्षेमेन्द्र ने कश्मीर के मठ में रहने वाले गौड़ देश के विद्यार्थियो के दुर्व्यसनी जीवन का उल्लेख करते हुए लिखा है कि भोजन में उनकी विशेष रूचि रहती थी।वे वेश्यागामी होते थे तथा वेश्याओं को दूध, घी,मोदक आदि से संतुष्ट करते थे। क्षेमेन्द्र ने यहां के आचार्यों को गृह राक्षस की उपमा से सम्बोधित किया है।[3] इससे शिक्षकों और विद्यार्थियो के अशिष्ट आचारण एवं दुश्चरित्रता का परिज्ञान होता है-ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे अध्ययन काल के उत्तरार्द्ध में शिक्षा मठो का तेजी से ह्रास हो रहा था ।क्यो कि सामाजिक नैतिकता के प्रतिश्रुति शिक्षक और शिक्षार्थी अपने नैतिक दायित्वो के मार्ग से विचलित हो रहे थे ।

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणो से स्पष्ट होता है कि विवेच्ययुग में कश्मीर समकालीन शिक्षा नगरो में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता था ।वहां के विद्वानो का दूरदेशो में विशेष सम्मान था और दूरस्थ देशो से ज्ञान पिपासु अपनी जिज्ञासा की पूर्ति हेतु कश्मीर आते थे ।

---

1. क्षेमेन्द्र: देशोपदेश लघुकाव्य संग्रह,पृ0 290-4.

2. राजतरंगिणी : 1. 199.

3. क्षेमेन्द्र : देशोपदेश लघु काव्य संग्रह,पृ0 292-93.

प्रमुख विश्वविद्यालय

प्राचीन काल में भारतीय शिक्षा प्रणाली को अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करने में बौद्ध शिक्षा का प्रमुख स्थान रहा है। बौद्ध मठ एवं विहार महात्मा बुद्ध की नीतियों और उपदेशों के प्रचार-प्रसार के साथ ही शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र भी बन गये और कालान्तर में कतिपय इन्हीं प्रसिद्ध मठ एवं विहारों में से अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षालय के रूप में कार्य करने लगे।ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुशीलन से हमारे अध्ययन काल ।700ई0से ।200ई0। में अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षालयों की एक लम्बी सूची प्राप्त होती है। जिसमें नालन्दा, विक्रमशिला, बलभी, ओदन्तपुरी, जगदला आदि मुख्य थे।

नालन्दा

विवेच्य काल में मगधराज्य का नालन्दा महाविहार शिक्षा का ख्याति लब्ध केन्द्र था।नालन्दा वर्तमान बिहार प्रान्त की राजधानी पटना से दक्षिण की ओर लगभग पचास मील की दूरी पर स्थित है।[1] बुद्ध के प्रमुख शिष्य सारिपुत्र का जन्म यहीं हुआ था। सर्वप्रथम 500श्रेष्ठियों ने मिलकर दस करोड़ मुद्राओं से नालन्दा क्षेत्र को क्रय करके महात्मा बुद्ध को अर्पित कर दिया था।[2] तथागत ने यहाँ के आम्रवन में कई दिन व्यतीत करके अपने शिष्यों को अपने धर्म की शिक्षा दी थी।[3] कालान्तर में अशोक महान ने वहाँ एक विहार का निर्माण करवाया था।[4] किन्तु विद्या

---

1. अल्तेकर : पूर्वोक्त, पृ0 89.
2. डा0जयशंकर मिश्र : पूर्वोक्त, पृ0 555.
3. वहीं.
4. वहीं.

केन्द्र के रूप में नालन्दर का इतिहास लगभग चार सौ पचास ई0 से प्रारम्भ होता है, क्योंकि चार सौ दस ई0 में फाह्यान ने उसका वर्णन शिक्षा केन्द्र के रूप में नहीं किया है।[1] बाद के अनेक गुप्त राजाओं के संरक्षण एवं प्रोत्साहन के फल स्वरूप नालन्दा प्रसिद्ध बौद्ध शिक्षा केन्द्र के रूप में विकसित हुआ। नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना गुप्त वंशीय सम्राट शक्रादित्य ।सम्भवतः कुमार गुप्त प्रथम 414ई0-455ई0। ने एक विहार के निर्माण तथा दान से की थी।[2] बुद्धगुप्त ने इसके दक्षिण में दूसरा संघाराम बनवाया था।[3] तथागत गुप्त ने इसके पूर्व में एक अन्य संघाराम का निर्माण करवाया था।[4] नरसिंह गुप्त बालादित्य ।468ई0 से 472ई0। ने उत्तर में एक तीसरा संघाराम तथा तीन सौ फीट ऊँचा एक और बड़ा विहार निर्मित करवाया था।[5] बालादित्य के पुत्र वज्र तथा मध्यभारत के नृपति श्री हर्ष ने भी एक-एक विहार बनवाएं थे।[6]

उत्खनन से ज्ञात हुआ है कि नालन्दा विश्वविद्यालय का विस्तार लगभग एक मील लम्बा तथा आधा मील चौड़ा था। नालन्दा बौद्ध महाविहार का निर्माण एक निश्चित योजना के अन्तर्गत हुआ था, और उसके भवनों की स्थिति अत्यन्त भव्य थी। इत्सिंग ने पूरे विश्वविद्यालय भवन में आठ विशाल काय कक्ष और तीन सौ छोटे-बड़े कक्ष देखे थे।[7] विशालकाय कक्षों ।हाल। का उपयोग सम्भवतः महत्त्वपूर्ण विषयों पर वाद-विवाद एवं

---

1. अलतेकर : पूर्वोक्त, पृ0 89.
2. डी0जी0आप्टे : युनिवर्सिटीज इन एन्शियन्ट इण्डिया. पृ0 24, मेमायर्स-आफ दि आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, पृ014, 1942, अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ0 89-90
3. डी0जी0आप्टे :युनिवर्सिटीज इन एन्शियन्ट इण्डिया, पृ0 24.
4. वही.
5. वही.
6. वही.
7. ट्रा0इ0हि0कां0 :पृ0 133, 1941:, मे0आ0स0इ0, पृ0 15, 1942.

सभागृह जैसे सामूहिक कार्यों के लिए होता होगा। नालन्दा विश्वविद्यालय का सबसे बड़ा विहार 203 फीट लम्बा और 164 फीट चौड़ा था। इसके कक्ष 9 से 11 फीट लम्बे थे। प्रत्येक कोनों पर कूपों का निर्माण किया गया था।[1] भवन के चारों ओर स्वच्छ जलों से परिपूर्ण जलाशय भी थे जिनके सौन्दर्य को उसमें खिले हुए नीलकमल द्विगुणित कर रहे थे। नालन्दा के भवन इतने ऊँचे थे कि आकाश के बादलों का परिवर्तन कोई भी व्यक्ति उस पर चढ़कर आसानी से देख सकता था।[2] ह्वेनसांग ने भी[3] विश्वविद्यालय परिसर में बहुमंजिले कान्तिमय भवनों का उल्लेख किया है। इन विहारों को घेरती हुई एक ऊँची दीवार थी जहाँ से प्रविष्ट होने के लिए तोरण द्वार थे।[4] यह विश्वविद्यालय में प्रवेश का मुख्य द्वार रहा होगा। भवन का विशाल द्वार दक्षिण में था।[5] विश्वविद्यालय परिसर में ही भव्य और विशाल बौद्ध प्रतिमा स्थापित थी, जिसे ह्वेनसांग ने भी देखा था।[6] ऐसा प्रतीत होता है कि इस बुद्ध प्रतिमा को बौद्ध धर्म और संघ के प्रतीक शिक्षासंस्थान के आदर्श के रूप में स्थापित किया गया होगा। अध्ययन-अध्यापन के सही समय ज्ञान के लिए विश्वविद्यालय परिसर में ही एक जलघड़ी तथा एक वेधशाला की व्यवस्था की गयी थी।[7] विश्वविद्यालय परिसर में ही छात्रावास, आचार्य आवास तथा पुस्तकालय के भी विशाल एवं उन्नत भवन थे।[8]

---

1. वाटर्स, 2, पृ0 180.
2. ए0इं0, भाग-20, पृ0 43.

    यस्यामम्बुधरावलेहि शिखर श्रेणी विहारावली।
    मालेवोर्ध्व विराजिनी विरचिता धात्रा मनोज्ञा भुवः।।

3. वाटर्स, भाग-2, पृ0165, लाइफ, पृ0111-12.
4. वाटर्स, भाग-2, पृ0 164, 165, 170, मेमायर्स आफ द आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, पृ0 15, 1942.
5. बीलकृत: दि लाइफ आफ ह्वेनसांग बाई ह्वी, पृ0 109 -114:, वाटर्स, भाग-2, पृ0 154-171.
6. राजेन्द्र पाण्डेय : भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृ0 356.
7. डी0जी0आप्टे : युनिवर्सिटीज इन एन्शियेन्ट इण्डिया, पृ030-31.
8. लाइफ, पृ0 111-12, विद्याभूषण : हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक, पृ0 516.

नालन्दा बौद्ध विहार में इत्सिंग के समय तीन हजार विद्यार्थी थे।[1] ह्वेनसांग के अनुसार नालन्दा में कई हजार विद्यार्थी अध्ययनरत थे।[2] किन्तु ह्वेनसांग के जीवनी लेखक ने सातवीं शताब्दी के मध्य विद्यार्थियों की संख्या दस हजार बताया है।[3] नालन्दा विश्वविद्यालय के आचार्यों, विद्यार्थियों एवं अन्य कर्मचारियों की संख्या 12000 होने के भी उद्धरण प्राप्त होते है, जिसमें 8500 विद्यार्थियों की शिक्षा 1510 शिक्षकों द्वारा सम्पन्न की जाती थी।[4] अलतेकर के अनुसार सातवीं शताब्दी के मध्य में नालन्दा में कम से कम - 5000 विद्यार्थी रहते थे।[5] और एक अध्यापक लगभग नौ विद्यार्थियों को पढ़ाता था।[6]

विद्यार्थी छात्रावासों में रहते थे। उनके भोजन एवं आवास की व्यवस्था विश्वविद्यालय द्वारा निःशुल्क की जाती थी। लेकिन विद्यार्थी निःशुल्क भोजन और आवास का अधिकारी तभी था, जब वह विहार में कुछ श्रमदान करे।[7] प्रत्येक छात्र के लिए एक पत्थर की चौकी, पुस्तक तथा दीपक रखने के लिए आला की व्यवस्था थी। छात्रावासों में रहने के लिए छात्रों को क्रमानुसार कक्षों का आवंटन किया जाता था। आवंटन की प्रक्रिया प्रतिवर्ष प्रवेशानुसार पूर्ण की जाती थी।[8]

---

1. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ0 91.
2. वाटर्स, भाग-2, पृ0 165.
3. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ0 91.
4. द्रा0इ0हि0का0, पृ0 129, 1941.
5. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ0 91.
6. वही, पृ0 94.
7. ताकाकुसु प्रकाशन, बुद्धिस्ट प्रैक्टीस इण्डिया, पृ0 106.
8. आर0के0 मुकर्जी: पूर्वोक्त, पृ0 569.

विवेच्य काल में विद्यार्थियों की इतनी बड़ी संख्या के लिए भोजन एवं आवास की व्यवस्था विश्वविद्यालय ने विभिन्न उपलब्ध साधनों से पूरा किया था। ह्वेनसांग के समय में उसके पास सौ गांव और इत्सिंग के समय दो सौ गांवों की आय[1] से नालन्दा बौद्ध महाविहार आर्थिक रूप से संचालित होता था। साथ ही इन गांवों के निवासी प्रतिदिन दूध और चावल भी अनुदान के रूप में देते थे। छात्रावासों में भोजन पकाने के लिए विहार की ओर से निर्धारित कर्मचारी थे और छात्रावास में भोजन के लिए बड़े-बड़े चौके थे।[2]

नालन्दा विश्वविद्यालय के आचार्य अति विद्वान, योग्य, प्रतिभा सम्पन्न एवं पांडित्यपूर्ण थे। जो ज्ञानार्जन एवं तत्व चिन्तन में निरन्तर लगे रहते थे। जिनकी ख्याति दूर देशों तक व्याप्त थी। नालन्दा के शिक्षकों का चरित्र सर्वथा उज्ज्वल एवं निर्दोष था। सदाचार के सम्पूर्ण नियमों का वे सत्यता से पालन करते थे।[3] शिक्षालय का अध्यक्ष एक लब्ध प्रतिष्ठित भिक्षु होता था। संघ के समस्त सदस्यों द्वारा उसका चुनाव होता था। चुनाव में भिक्षु के चरित्र, पांडित्य और वय का ध्यान रखा जाता था। नालन्दा के कुलपति शील भद्र अपनी विद्वता, निर्मल चरित्र और आध्यात्म ज्ञान के लिए प्रसिद्ध थे। इनके अतिरिक्त धर्मपाल, चन्द्रपाल तथागत विद्वाओं के प्रसिद्ध विद्वान थे। गुणमति एवं स्थिरमति का पांडित्य सर्वत्र प्रवाहितथा।

----

1. द्रा०इ०हि०क०, पृ० 130, 1941, लाहा, पृ० 112.
2. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ० 97.
3. प्राचीन भारत का सामाजिक-धार्मिक एवं आर्थिक जीवन, पृ० 27।.

प्रभामित्र जिनके तर्कों की सर्वत्र ख्याति थी, जिन मित्र जो सम्भाषण की श्रेष्ठता रखते थे, अद्वितीय बुद्धि वाले जिनचन्द्र आदि विद्वान नालन्दा की शोभा थे।[1] इनमें से अनेक विद्वान विभिन्न प्रदेशों के थे। धर्मपाल कांची के थे। आर्यदेव और दिड्.नाग दक्षिण भारत के थे। शीलभद्र समतट ।बंगाल। के निवासी थे। गुणमति और स्थिरमति वल भी के रहने वाले थे।[2] नवीं शताब्दी में जलालाबाद के समीप के एक भिक्षु नालन्दा विश्वविद्यालय के प्रधान आचार्य चुने गये थे।[3] अपने-अपने विषय के यहां अनेक विद्वान थे।[4] आचार्यों का ऐसा प्रभाव था कि शिक्षालय की स्थापना के 700 वर्षों के भीतर किसी ने कभी विहार के नियमों का उल्लंघन अथवा अतिक्रमण नहीं किया था।[5] अनुशासन तथा दण्ड का कठोरता से पालन किया जाता था।[6]

नालन्दा में ज्ञान-विज्ञान का विशेष केन्द्र होने के कारण देश-विदेश के अनेक छात्र यहां अपनी शंकाओं के समाधान के लिए आते थे। नालन्दा का स्नातक होना गौरव की बात होती थी।[7] ह्वेनसांग एवं इत्सिंग के अतिरिक्त थान-मि, ताउ-हि, हुवैन-च्यु, आर्य वर्मन, बुद्धधर्म, ताउ-सिंड्.-ताड्. तथा हुई-लु आदि अनेक विद्यार्थी चीन, कोरिया, मंगोलिया, तोखरा और तिब्बत से नालन्दा शिक्षा ग्रहण करने आये। इन्होंने यहां रहकर वर्षों अध्ययन किया था, तथा अनेक ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों की प्रतिलिपि तैयार की थी।[8]

---

1. वाटर्स, भाग-2, पृ० 165, इत्सिंग, पृ० 76, लाइफ, पृ० 112.
2. जयशंकर मिश्र: प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० 557.
3. इ०ऐ०, जिल्द 17, पृ० 307.
4. डी०जी०आप्टे : यूनिवर्सिटीज इन एन्शियेन्ट इण्डिया, पृ० 27.
5. वहीं, पृ० 28,
6. लाइफ, पृ० 112-13.
7. मेमायर्स आफ दि आर्केलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, पृ०16, 1942.
8. डी०जी०आप्टे : पूर्वोक्त, पृ० 27.

नालन्दा का पुस्तकालय अत्यन्त विशाल था,जहां बौद्ध आगमो और अन्य पुस्तकों की शुद्ध प्रतिलिपियां प्राप्त होती थी,पुस्तकालय के स्थल का नाम धर्मगंज रखा गया था,विशालता के कारण पुस्तकालय को तीन भागो में विभाजित कर दिया गया था।इन तीनो को क्रमशः"रत्नसागर", रत्नोदधि," तथा "रत्नरंजक"नाम से सम्बोधित किया जाता था ।इन तीनो ही भवनो में पुस्तके रखी हुई थी ।[1]इत्सिंग के द्वारा इस पुस्तकालय में लगभग पांच लाख श्लोको से पूर्ण चार सौ संस्कृत पुस्तकों की प्रतिलिपियां तैयार की गयी थी ।[2] इन पुस्तकों को वह चीन ले गया ।[3]यहां जिज्ञासु तथा अध्ययनशील विद्यार्थियों की भीड़ लगी रहतीथी ।[4]

नालन्दा विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने के इच्छुक छात्रों के लिए कठोर नियम थे।ख्याति वृद्धि के कारण इस शिक्षा संस्थान में प्रवेशार्थियों की विशाल भीड़ होती थी । प्रवेशार्थी को सबसे पहले द्वारपाल से वाद-विवाद कर उसकी शंकाओं एवं कठिन प्रश्नो का उत्तर देनापड़ता था ।[5] प्रविष्ट होने वाले छात्रों कीयोग्यता का स्तर भी ऊंचा था ।केवल वही विद्यार्थी प्रवेश कर पाते थे जो पुरातन एवं नवीन दोनो प्रकार की विद्याओं में प्रवीण होते थे ।नालन्दा में प्रवेश केवल उन्ही तक सीमित था जिनकी पृष्ठ भूमि स्नातकोत्तर शिक्षा के योग्य थी ।[6] दस में से केवल दो या तीन विद्यार्थी ही सफल हो पाते थे ।[7] प्रवेश की आयु किसी भी प्रकार से बीस वर्षो से कम नहीं थी ।[8]

---

1. विद्याभूषण : हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक,पृ0 516.
2. इत्सिंग,पृ0 1.
3. आर0के0मुकर्जी : पूर्वोक्त, पृ0 574.
4. वाटर्स,भाग-1,पृ0 160.
5. मे0आ0स0ब0,पृ0 16.
6. डी0जी0आप्टे : पूर्वोक्त, पृ0 27.
7. वाटर्स, भाग-2,पृ0 165.
8. डी0जी0आप्टे : पूर्वोक्त, पृ0 27.

पाठ्यक्रम के अवलोकन से भी नालन्दा अपने समय का सर्वोत्कृष्ट शिक्षा केन्द्र था ।उसका पाठ्यक्रम सुविस्तृत एवं सर्वांगीण था । शिक्षा के विषय ब्राह्मणीय और बौद्ध,आध्यात्मिक एवं लौकिक,दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक, विज्ञान एवं कला आदि बहुमुखी क्षेत्रों से सम्बन्धित थे ।[1]नालन्दा विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम व्यापक था और प्रत्येक व्यक्ति को उसके इच्छित व्यवसाय में दक्षता प्रदान करने के उद्देश्य को पूरा करता था ।[2]यद्यपि नालन्दा विश्वविद्यालय महायान बौद्धों का था,[3] फिर भी उसके पाठ्यक्रम में हीनयान तथा अन्य धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन के अतिरिक्त अन्य सभी विषय समाविष्ट थे ।

नालन्दा में शिक्षण की प्रथम विधि शास्त्रार्थ थी,जो प्रश्नोत्तर के रूप में विकसित थी ।इस विधि का आभास प्रवेश के समय द्वार पंडित की परीक्षा से होता था । वैसे इस शिक्षा संस्था की मुख्य शिक्षण विधि व्याख्यान थी । आचार्य व्याख्यान देते थे एवं उसी से शिष्य ज्ञानार्जन करते थे ।नालन्दा में प्रतिदिन प्राय:सभी विषयों को मिलाकर 100 व्याख्यानों की व्यवस्था होती थी। इसके अतिरिक्त मौखिक तथा पुस्तक विधि एवं व्याख्या विधि का भी प्रयोग शिक्षण के लिए किया जाता था ।जिससे अध्ययन कार्य अत्यन्त सुगम रहा होगा।

नालन्दा बौद्धविहार का सम्पूर्ण प्रबन्ध करने वाले भिक्षु को महास्थविर कहा जाता था। उनकी सहायता के लिए शैक्षिक एवं सामान्य प्रबन्ध विषयक दो परिषदें हुआ करती थी ।[4] विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों के प्रवेश,पाठ्य -

---

1. डी0जी0आप्टे : पूर्वोक्त,पृ0 31.

2. इ0हि0क्वा0: जिल्द-28, भाग 1,पृ0 11,1952

3. डी0जी0आप्टे :पूर्वोक्त,पृ0 30.

4. अल्तेकर : पूर्वोक्त, पृ0 94.

विषयों का निर्धारण, अध्यापकों में पाठ्य विषयों का विभाजन, परीक्षाओं का संचालन, पुस्तकालयों का प्रबन्ध और जीर्ण-शीर्ण पोथियों के पुनर्लेखन तथा प्राप्य की प्रतिलिपि आदि तैयार करने की व्यवस्था का कार्य शिक्षा समिति करती थी।[1] सामान्य प्रबन्ध समिति का कार्य,[2] विद्यालय के सभी प्रकार का प्रबन्ध तथा आय-व्यय का संचालन करना था। नये भवनों का निर्माण तथा पुराने भवनों की मरम्मत, छात्रों के लिए भोजन, वस्त्र एवं चिकित्सा की व्यवस्था तथा विश्वविद्यालय के अन्य कार्यों का संचालन इसी समिति के कार्य क्षेत्र में आता था। नालन्दा का प्रबन्ध अत्यन्त आदर्शपूर्ण था, शिक्षक एवं छात्र के मध्य सौहार्द-पूर्ण आत्मीय सम्बन्ध थे।[2] नालन्दा का प्रबन्ध प्रशासन धार्मिक सहिष्णुता से परिपूर्ण था।

विवेच्य काल में शिक्षा के महत्वपूर्ण केन्द्र के रूप में नालन्दा की ख्याति दिग्-दिगन्त तक प्रसरित थी। वहाँ के विद्वानों की ख्याति से आकृष्ट होकर तिब्बत के राजा ने आचार्य शान्तरक्षित को अपने यहाँ आमंत्रित किया और आचार्य बोधिसत्व की उपाधि से विभूषित किया था। जावा और सुमात्रा के राजा बल पुत्र देव ने इसकी ख्याति से आकृष्ट होकर यहाँ एक विहार निर्मित कराया, तथा उसके सञ्चालना अर्थ के लिए अपने मित्र बंगाल के राजा देवपाल को पांच गांव दान करने के लिए प्रेरित किया था। इस निधि के एक भाग से पुस्तकों की प्रतिलिपि तैयार करायी जाती थी।[3] 8वीं शताब्दी के एक लेख से ज्ञात होता है कि शास्त्र पारङ्गत प्रगाढ़ पंडितों के कारण नालन्दा तत्कालीन सभी नगरियों का उपहास करती थी।[4] इस प्रकार स्पष्ट है कि तद्युगीन समाज

---

1. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ0 59.
2. आर0के0 मुकर्जी, पूर्वोक्त, पृ0 570.
3. अलतेकर: प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ0 95.
4. पी0एन0बोस: इण्डियन टीचर्स आफ बुद्धिस्ट युनिवर्सिटीज, पृ0 116-31.

में पांडित्य एवं ज्ञान का सर्वत्र समादर होता था ।

हमारे अध्ययन काल में पालवंशीय राजाओं द्वारा विक्रमशिला विश्वविद्यालय की स्थापना और संरक्षण प्रदान करने से नालन्दा की कीर्ति कुछ मन्द पड़ने लगी तथा उसमें ह्रास के चिन्ह परिलक्षित होने लगे । बारहवीं शताब्दी के अन्त मेंमुस्लिम आक्रमणकारी बख्तियार खिल्जी द्वारा इस बौद्ध महाविहार पर आक्रमण किये जाने के कारण यह शिक्षा केन्द्र पूर्णतः नष्टभ्रष्ट हो गया।उसने या तो भवन जला दिये अथवा धराशायी कर दिये । भिक्षुओं को तलवार के धार उतार दिया गया एवं पुस्तकालय[1] जलाकर राख कर दिया गया । इस प्रकार अपने युग का यह विशालतम् शिक्षा केन्द्र जहाँ से निकलती हुई ज्ञान की किरणें सम्पूर्ण विश्व को प्रदीप्त कर रही थीं,सदा के लिए खण्डहर के रूप में बदल गया ।

विक्रमशिला

विक्रमशिला विश्वविद्यालय की स्थापना आठवीं शताब्दी में बंगाल के पालवंशीय शासक धर्मपाल के द्वारा हुई थी।[2] नवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक इसकी ख्याति हो चुकी थी और वह तद्युगीन समाज का प्रमुख ज्ञान-विज्ञान केन्द्र था ।विक्रम शिला बौद्ध महाविहार वर्तमान बिहार राज्य में भागलपुर से लगभग 25 मील दूर गंगानदी के दाहिनी किनारे पर एक छोटी सी पहाड़ी पर स्थित था ।[3]वर्तमान बडल गाँव

---

1. डी0जी0आप्टे : पूर्वोक्त,पृ0 32.
2. वहीं, पृ0 46.
3. वहीं, अलतेकर :एजुकेशन इन एन्शियेन्ट इंण्डिया,पृ0 127.

के समीप पत्थर घाट की पहाड़ी सम्भवतः इसकी स्थापना का स्थान ही है।

राजा धर्मपाल ने विक्रमशिला बौद्ध महाविहार के लिए अनेक विशाल भवन बनवाये थे। इन भवनों का निर्माण एक सुनियोजित योजना के अन्तर्गत हुआ था। यहाँ 108 मंदिर और छः महाविद्यालय के भवन थे जिसके मध्य में महाबोधि का एक विशाल मंदिर था।[1] जिसकी बाहरी दीवारें कलापूर्ण चित्रों से सुसज्जित थी। इन सभी भवनों के चारों ओर एक सुदृढ़ प्राचीर का घेरा था।[2]

पालवंशीय राजाओं ने अपने शासन काल में अनेक बुद्ध मंदिर तथा विहार बनवाये थे और उनके सम्वर्धन के लिए मुक्त हस्त दान दिया था। राजा धर्मपाल ने विक्रम शिला विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को भोजन एवं आवास की सुविधा एवं सामान्य व्यवस्था के लिए उदारता पूर्वक दानदिया था जिसे उसके उत्तराधिकारियों ने तेरहवीं शताब्दी तक मुक्त हस्त दान देकर इस शिक्षा संस्था को प्रोत्साहन देने का क्रम अविछिन्न रखा।[3] अलतेकर के अनुसार ग्यारहवीं शताब्दी तक विक्रमशिला की प्रधानता स्थापित हो चुकी थी और उसे पाल राजाओं का अधिक प्रश्रय प्राप्त था।[4] तारानाथ भी लिखते है कि विक्रमशिला का अधिपति नालन्दा का संरक्षण करता था।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि विक्रमशिला के आचार्य नालन्दा की व्यवस्था भी देखते थे।

---

1. आर०के०मुकर्जी : पूर्वोक्त,पृ० 587.
2. डी०जी०आप्टे : पूर्वोक्त,पृ० 47.
3. डी०जी०आप्टे :पूर्वोक्त,पृ० 47;.पी०एन०बोस,पूर्वोक्त,पृ०30.
4. अलतेकर: पूर्वोक्त:पृ०96.
5. तारानाथ : पृ० 116.

विक्रमशिला बौद्ध महाविहार की शैक्षिक सम्पन्नता में आकृष्ट होकर भारत के अतिरिक्त विदेशोंसे भी विद्यार्थी यहाँ शिक्षा ग्रहण करने आते थे। तिब्बत से ज्ञानपिपासु भारतीय पंडितों के चरणों में बैठकर अध्ययन करने आते थे।[1] तिब्बत और विक्रमशिला में चार शताब्दियों तक अनवरत ज्ञान विनिमय होता रहा। तिब्बती सूत्रों से ज्ञात होता है कि विक्रमशिला में रहने वाले अनेक विद्वानों ने अत्यन्त ख्यातिपूर्ण ग्रन्थ लिखे और विभिन्न ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद भी किया। तिब्बती राजा के निमन्त्रण पर दीपंकर श्री ज्ञान ने उपाध्याय श्रीमत आतिश के नाम से तिब्बत की यात्रा की थी।[2]

इस शिक्षा संस्था से जो विद्यार्थी अपनी शिक्षा पूर्ण करते थे, उन्हें शिक्षा समापन के समय जो उपाधि प्राप्त होती थी वह उसके विषय की दक्षता का प्रमाण मानी जाती थी। जेतारि तथा रत्न वज्र को पाल राजाओं की ओर से उपाधियाँ दी गयी थी।[3]

विक्रमशिला विश्वविद्यालय बौद्धों के वज्रयान सम्प्रदाय के अध्ययन का सबसे प्रमाणिक केन्द्र था। यहाँ के आचार्य उच्चकोटि के दार्शनिक एवं विद्वान थे। इन विद्वानों में रक्षित, विरोचन, बुद्ध, रत्नाकर शान्ति, ज्ञानपाद, ज्ञान श्री मित्र, जेतारि, अभयंकर, रत्न वज्र, और दीपंकर थे। दीपंकर श्री ने सैकड़ों ग्रन्थों की रचना की थी। वे इस शिक्षा संस्था के सर्वाधिक प्रसिद्ध विद्वानों में से एक थे।[4] यही उपाध्याय आतिश नाम से ग्यारहवीं शताब्दी में विख्यात थे। आतिश ने तिब्बत के बौद्ध धर्म के सुधार में महत्वपूर्ण कार्य

---

1. एस०सी०दास: इंडियन पंडित्स इन द लैण्ड आफ स्नो, पृ० 58.
2. तारानाथ: पृ० 129.
3. पी०एन०बोस: पूर्वोक्त, पृ० 47-61.
4. वहीं, पृ० 30.

किया था । तिब्बती सूत्रों में उन्हें दो सौ मौलिक और अनुवादित ग्रन्थों का रचनाकार बताया गया है।[1] राजा महीपाल के समकालीन आचार्य आनन्द गर्भ ने विक्रमशिला में पांच विद्याओं का अध्ययन किया था ।[2] पंच-विद्या में चिकित्सा विद्या, शिल्प विद्या, शब्द विद्या, हेतु विद्या और आध्यात्म विद्या सम्मिलित थी ।[3] विशिष्ट विद्वानों की निरन्तर स्मृति को स्थापित रखने के लिए विहार के कक्षों की दीवारों पर उनके चित्र निर्मित कर दिये जाते थे। इस प्रकार का सम्मान नागार्जुन तथा आतिश को प्राप्त था ।[4]

विक्रमशिला बौद्ध महाविहार का पाठ्यक्रम नालन्दा के पाठ्यक्रम की भांति उदार एवं विस्तृत नहीं था, किन्तु विक्रमशिला का पाठ्यक्रम जितना व्यवस्थित था, सम्भवतः उतना व्यवस्थित पाठ्यक्रम अन्य किसी भी प्राचीन भारतीय विद्यापीठ का नहीं था ।[5] इस शिक्षा संस्था में मुख्य रूप से व्याकरण, न्याय, तत्वज्ञान, तन्त्र तथा कर्मकाण्ड का अध्ययन -अध्यापन होता था ।[6] तद्युगीन महत्वपूर्ण तन्त्रवाद आन्दोलन का प्रमुख श्रेय प्रधानतया इसी बौद्ध महाविहार को है। तारानाथ ने विक्रमशिला विश्वविद्यालय के बारह तांत्रिक आचार्यों का भी उल्लेख किया है।[7]

---

1. पी0एन0बोस : पूर्वोक्त, पृ0 32,105.
2. तारानाथ : पृ0 121.
3. वहीं, पाद टिप्पणी में.
4. अल्तेकर : पूर्वोक्त, पृ0 99-100.
5. डा0राजेन्द्र पाण्डेय : भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृ0356;, अल्तेकर: पूर्वोक्त, पृ0 99.
6. अल्तेकर: पूर्वोक्त, पृ0 99.
7. तारानाथ : पृ0 3.

नालन्दा विश्वविद्यालय की भाँति विक्रमशिला बौद्ध महाविहार में भी द्वार पंडित प्रवेशार्थी विद्यार्थियों की योग्यता परीक्षा लेते थे। राजा कनक के शासन काल में इस शिक्षा संस्था के पूर्वी द्वार पर आचार्य रत्नाकर शान्ति, पश्चिमी द्वार पर काशी के वागीश्वर कीर्ति, उत्तरी द्वार पर आचार्य नाड-पाद तथा दक्षिणी द्वार पर प्रज्ञाकरमति, और प्रथम केन्द्रीय द्वार पर कश्मीर के रत्न वज्र एवं द्वितीय केन्द्रीय द्वार पर गौड़ के ज्ञान श्री मित्र नामक उच्च-कोटि के विद्वान नियुक्त थे।[1]

विक्रमशिला विश्वविद्यालय में आचार्यों की इतनी बड़ी संख्या छात्रों की विशाल संख्या की ओर संकेत करती है। तारानाथ ने 160 पंडितों और स्थायी रूप से रहने वाले 1000 भिक्षुओं का उल्लेख किया है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ विद्यार्थी अल्पकालिक शिक्षा भी यहाँ ग्रहण करते रहे होंगे। जो सम्भवतः आज के पत्राचार शिक्षा प्रणाली जैसा होता होगा। बसु के अनुसार बारहवीं शताब्दी में इस बौद्ध महाविहार में तीन हजार भिक्षु पढ़ते थे।[3]

विक्रमशिला में विद्यार्थियों की सुविधा के लिए पुस्तकालय की भी व्यवस्था थी, जिसकी प्रशंसा मुसलमान विध्वंसकों ने भी की है।[4] यहाँ देश-विदेश के छात्र अध्ययनार्थ आते थे। दिग्-दिगन्त तक फैली आचार्यों की ख्याति एवं विद्यार्थियों की संख्या से भी यह बात परोक्ष रूप से प्रमाणित

----

1. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ० 99. विद्याभूषण: ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक, - पृ० 520.

2. तारानाथ, पृ० 131.

3. पी०एन० बोस: पूर्वोक्त, पृ० 84.

4. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ० 99.

हो जाती है कि विक्रमशिला बौद्ध महाविहार में अति समृद्ध और विशाल पुस्तकालय रहा होगा ।

इस बौद्ध महाविहार के सामान्य प्रबन्ध नियामक महास्थविर -।कुलपति। होते थे। जिनके विभिन्न कार्यों तथा प्रव्रज्या, उपसम्पदा, भृत्य निरीक्षण, नियुक्ति, भोजन एवं आच्छादन का समविभाग तथा विहार के अन्य कार्यों का उत्तरदायित्व संभालने के लिए परिषद थी, जिसमें विभिन्न सदस्यों को यह कार्य दे दिया जाता था ।[1] चार भिक्षुओं पर जितना व्यय होता था उससे अधिक एक अध्यापक को नहीं मिलता था ।[2] आचार्यों का जीवन साधारण प्रकृति का था ।आवास और भोजन का प्रबन्ध महाविहार की ओर से किया जाता था ।

विवेच्य काल के उत्तरार्ध में अनेक शिक्षा संस्थाओं की ही भांति विक्रमशिला विश्वविद्यालय भी वैदेशिक आक्रमण का शिकार हुआ। मुस्लिम ग्रन्थ तबकात-ए-नासिरी में इस शिक्षा केन्द्र के पतन का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। 1203ई0 में बख्तियार खिल्जी के नेतृत्व में हुए आक्रमण ने इस बौद्ध महाविहार को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया ।आक्रमण में इसके अन्दर स्थित विशाल पुस्तकालय भी भस्म हो गया ।मुस्लिम आक्रमणकारियों ने इसे देखकर दुर्ग समझ लिया था ।आक्रमण के समय इस शिक्षा संस्था में अधिकांश ब्राम्हण और बौद्ध भिक्षु मुंडित केश थे ।इन सबको तलवार के घाट उतार दिया गया ।जब आक्रान्ताओं की दृष्टि विक्रमशिला के साहित्य पर पड़ी तब उन्हें यह आभास हुआ कि यह कोई

---

1. अल्तेकर : पूर्वोक्त, पृ0 99.

2. वही.

शिक्षा केन्द्र था । उन्होंने इसे समझने के लिए प्रयास किया, किन्तु सभी विद्वान मारे जा चुके थे ।[1]आक्रमण के समय महास्थविर शाक्य श्री भद्र अपने कुछ साथियों के साथ जान बचाकर जगदला होते हुए तिब्बत चले गये । इस तरह सदियों से ज्ञान का प्रकाश बिखेरने वाला यह शिक्षा केन्द्र सदैव के लिए बुझ गया ।

वलभी

वलभी 480ई0 से 775ई0 तक काठियावाड़ में मैत्रक सम्राटों की राजधानी थी । वलभी काठियावाड़ के पूर्वी किनारे पर आधुनिक वल के निकट स्थित था, जो तद्युगीन समाज में आर्थिक और सांस्कृतिक सम्पन्नता का प्रतीक था । किन्तु इसका अत्यधिक महत्व शिक्षा केन्द्र के रूप में था । सौराष्ट्र में स्थित यह विश्वविद्यालय एक महत्वपूर्ण शिक्षा का केन्द्र था । मैत्रक राजाओं के अनुदानों के फलस्वरूप ही इसका विकास हुआ था।[2]यहाँ विशाल मठ और विहार बने हुए थे । सर्वप्रथम इस शिक्षा केन्द्र में विहार का निर्माण राजकुमारी डड्डा ने कराया था ।[3]तदनन्तर दूसरा विहार राजा धरसेन ने 580ई0 में बनवाया था जिसका नाम "श्रीबप्पपाद" था ।[4]

सातवीं शताब्दी तक वलभी शिक्षा केन्द्र के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुका था । चीनी यात्री इत्सिंग लिखता है कि उत्तर भारत में नालन्दा वलभी के समान श्रेष्ठता को प्राप्त था ।[5]अरबों के आक्रमण के समय राजनैतिक उथल-पुथल के कारण इस शिक्षा संस्था का कार्य कुछ समय के लिए ठप्प पड़ गया था ।

----

1. डा0जयशंकर प्रसाद मिश्र:प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0559 पर उद्धृत तबकात-ए-नासिरी.
2. डी0पी0आप्टे :पूर्वोक्त, पृ0 44.
3. डा0जय शंकर प्रसाद मिश्र :पूर्वोक्त, पृ0 559.
4. वही.
5. इत्सिंग, पृ0 177.

किन्तु स्थिति शान्त होते ही शिक्षा केन्द्र के रूप में वलभी पुनः विख्यात हो गया था।[1] यद्यपि वलभी विश्वविद्यालय में बौद्ध शिक्षा के अन्तर्गत हीनयान शाखा के मत को समर्थन प्राप्त था।[2] फिर भी बौद्ध शिक्षा के अतिरिक्त ब्राम्हणीय शिक्षा को भी प्रमुखता प्राप्त था।[3] इस शिक्षा केन्द्र में दूर-दूर से विद्यार्थी यहाँ शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे। गंगाघाटी से अनेक ब्राम्हण पुत्र इस शिक्षा संस्था में अध्ययनार्थ आया करते थे।[4] इससे विश्वविद्यालय की धार्मिक सहिष्णुता का ज्ञान होता है। बारहवीं शताब्दी तक बंगाल जैसे दूरस्थ प्रदेशों के जिज्ञासु विद्यार्थी भी अपनी जिज्ञासा पूर्ति हेतु यहाँ आते थे। ह्वेनसांग के समय (640ई0) में यहाँ लगभग सौ विहार में 6000 भिक्षु शिक्षा प्राप्त कर रहे थे।[5] वलभी में भारत के कोने-कोने से ज्ञानपिपासु यहाँ एकत्रित होते थे तथा दो-तीन वर्ष रहकर सभी सम्भव और असम्भव सिद्धान्तों पर वाद-विवाद किया करते थे। जब यहाँ के विद्वानों द्वारा उनके मतों की विशिष्टता की पुष्टि हो जाती तो वे अपने पांडित्य के लिए दूर-दूर तक विख्यात हो जाते थे। इस विश्वविद्यालय में दो-तीन वर्षों के अध्ययनोपरान्त ही शिक्षा की पूर्णता होती थी।[6]

---

1. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ097.
2. पी0एल0रावत: भारतीय शिक्षा का इतिहास, पृ0 80.
3. डी0 बी0आप्टे: पूर्वोक्त, पृ0 44.
4. अन्तर्वेदाम अभूपूर्व वसुदत्त इतिद्विजः,
   विष्णुदत्ताभिधस्तस्य पुत्रस्स ष्योपपद्यत।
   स विष्णु दत्तो वयसापूर्ण षोडश वत्सरः,।
   गन्तु प्रवृत्तो विद्या प्राप्तये वलभीपुरम्।।
   कथासरित्सागर: अध्याय 32,42,43,
5. वाटर्स, 2, पृ0 246.
6. सुरेन्द्र नाथ सेन: इण्डिया थ्रू चाइनीज आइज, पृ0 130.

वलभी में आचार्यों की संख्या कितनी थी इसका स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता, फिर भी विद्यार्थियों की संख्या और वलभी बौद्ध महाविहार की विशालता को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि आचार्यों की संख्या अधिक रही होगी। नालन्दा की भांति यहां भी प्रसिद्ध विद्वानों के नाम उत्तुंग द्वारों पर लिखे जाते थे।[1] सातवीं शताब्दी के मध्य में आचार्य भदन्त, स्थिरमति एवं गुणमति यहां के ख्याति प्राप्त विद्वान थे।[2] इस बौद्ध महाविहार का प्रमुख भी महास्थविर ।कुलपति। होता था।

वलभी विश्वविद्यालय में एक व्यवस्थित पुस्तकालय की भी सूचना मिलती है। जहां विविध विषयों की पुस्तकें संग्रहीत थीं। गुह्यसेन के दान पत्र ।559 ई०। में पुस्तकों के क्रय के आदेश का उल्लेख है।[3] मैत्रक वंश के राजाओं ने साधारण दानों के अतिरिक्त पुस्तकों के लिए विशेष दान दिये थे।[4] जिससे पुस्तकालय की समृद्धि का पता चलता है।

वाणिज्यिक केन्द्र होने के कारण वलभी में अनेक श्रीमंत नागरिक निवास करते थे। विवेच्ययुग में इस शिक्षा संस्था को राजाओं के अतिरिक्त उदार, धनी एवं दानी श्रीमंत नागरिकों की ओर से आर्थिक सहायता प्राप्त होती थी।[5] जिससे इस बिहार में विद्यार्थियों के आवास, भोजन तथा अन्य व्यवस्था सम्पन्न होती थी।

---

1. इत्सिंग, पृ० 176-77.
3. प्यारेलाल रावत: भारतीय शिक्षा का इतिहास, पृ० 80.
2. अलतेकर : पूर्वोक्त, पृ० 96, इ०ऐ०, 6, पृ० 11.
4. डी०जी०आप्टे : पूर्वोक्त, पृ० 44, इ०ऐ० जिल्द 7, पृ० 67.
5. डा० जय शंकर मिश्र : पूर्वोक्त, पृ० 559.

वलभी विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम अत्यन्त विस्तृत था। यहाँ आध्यात्मिक एवं भौतिक दोनों विषयों का अध्ययन-अध्यापन होता था इस शिक्षा केन्द्र में न्याय, मीमांसा, चिकित्सा शास्त्र, अर्थशास्त्र, साहित्य, तर्क, विविध धर्म, व्याकरण, व्यवहार, शासन, मुनीमी, जैसे विविध विषयों की शिक्षा दी जाती थी।[1] वलभी के स्नातकों को तद्युगीन शासन में ऊँचे पदों पर नियुक्त किया जाता था।[2] स्नातक होने के पश्चात वे राजदरबारों में उपस्थित होकर अपनी क्षमताओं को सिद्ध करते थे, और प्रशासकीय सेवाओं में नियुक्ति के लिए प्रतिभा का प्रदर्शन करते थे।[3] जिससे इस शिक्षा के उत्कृष्ट शैक्षिक स्तर एवं अध्ययन विषयों की विविधता का परिज्ञान होता है।

वलभी शिक्षा केन्द्र का ह्रास राजनैतिक उथल-पुथल का परिणाम था। बारहवीं शताब्दी के पश्चात् मुस्लिमों के आक्रमणों से इसका प्रभाव क्षीण होने लगा। सम्भवतः संरक्षक राजाओं की पराजय ही इसका मुख्य कारण रहा होगा। यद्यपि अन्य शिक्षा केन्द्रों की भाँति इसका पूर्ण विनाश नहीं हुआ फिर भी इसके प्रामाणिक साक्ष्य अवश्य नष्ट हो गये। इस प्रकार विवेच्य काल का अतिख्याति लब्ध विद्या केन्द्र का अवसान हो गया।

औदन्तपुरी

विवेच्य युग में औदन्तपुरी विश्वविद्यालय मगध देश में कहीं स्थित था। यह नालन्दा तथा विक्रमशिला की भाँति प्रसिद्ध नहीं था। अभी तक इस शिक्षा केन्द्र का स्थापना स्थल अज्ञात है। यद्यपि पालवंशीय

---

1. उपेन्द्र ठाकुर: प्राचीन भारत, पृ0 191, डी0जी0आप्टे: पूर्वोक्त, पृ0 44.
2. डी0जी0आप्टे: पूर्वोक्त, पृ0 44.
3. ताकाकुसु : पृ0 177.

राजाओं के शासन से पूर्व ही यह विद्या केन्द्र स्थापित हो चुका था ।[1] क्यों कि इस बात के प्रमाण प्राप्त होते है कि पालवंशीय नृपतियों ने इसका विस्तार करने में अपना योगदान किया था ।तथापिस्मिथ ने इसे प्रथम पालवंशीय राजा गोपाल द्वारा 8वीं शताब्दी में संस्थापित माना है।[2]वसु के अनुसार इस शिक्षा संस्था की स्थापना रामपाल ने की थी।[3] इतना तो निश्चित है कि पालवंशीय राजाओं के काल में यहशिक्षा केन्द्र उन्नति पर था,और इसे राजाश्रय प्राप्त था ।

ओदन्तपुरी बौद्ध महाविहार तंत्रविद्या के लिए प्रसिद्ध था ।[4] इस शिक्षा केन्द्र में लगभग एक हजार भिक्षु स्थायी रूप सेरहते थे ।[5]राजा महीपाल द्वारा ओदन्तपुरी विश्वविद्यालय के पांच सौ भिक्षुओं और पचास धर्म दर्शिकों की जीविका का प्रबन्ध और वहां के पांच सौश्रवकों के भोजन की व्यवस्था का उल्लेखहै।[6] तिब्बती विद्यार्थी भी यहां आकर विद्याध्ययन करते थे ।इस प्रकार स्पष्ट होता है कि इनके अध्यापन के लिए अध्यापकों की पर्याप्त संख्या रही होगी,तथा आवासीय व्यवस्था भी सुदृढ़ रही होगी ।

ओदन्तपुरी शिक्षा केन्द्र में महारक्षित और शीलरक्षित जैसे लब्ध-प्रतिष्ठित विद्वान आचार्य थे ।[7] तिब्बत के राजा ने शान्तरक्षित के परामर्श से ओदन्तपुरी के अनुरूप ही तिब्बत का प्रथम बौद्ध म० 749 ई० में बनवाया

---

1. आर०के०मुकर्जी:पूर्वोक्त,पृ० 596.
2. स्मिथ :अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया,पृ० 398.
3. पी०एन०बोस:पूर्वोक्त,पृ० 143-156.
4. विन्देश्वरी प्रसाद सिन्हा:दि काम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री आफ बिहार, पृ० 379.
5. आर०के०मुकर्जी:पूर्वोक्त,पृ० 595.
6. तारानाथ : पृ० 122.
7. डा०विन्देश्वरीप्रसाद सिन्हा:पूर्वोक्त, पृ० 379.

था ।[1] इस प्रकार बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करने में ओदन्तपुरी विश्वविद्यालय का भी पर्याप्त योगदान था ।[2]

ओदन्तपुरी में ब्राम्हणीय एवं बौद्ध साहित्य के अत्यन्त दुर्लभ पुस्तकों का संग्रह था ।[3] जिससे विभिन्न मतावलम्बियों के अध्ययन-अध्यापन का आभास होता है। विद्यार्थियों की संख्या, दिग्-दिगन्त प्रसारित आचार्यों की कीर्ति एवं विशाल पुस्तकालय के आधार पर कहा जा सकता है कि इस विद्या केन्द्र में विविध विषयों का अध्ययन-अध्यापन होता होगा ।

ओदन्तपुरी विश्वविद्यालय का विनाश भी अन्य शिक्षा केन्द्रों की भाँति मुस्लिम आक्रमणकारियों के बर्बरता पूर्ण कृत्य से[4] तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ ।

जगद्दल

शिक्षा प्रेमी पालवंशीय राजाओं ने अपने शासन काल में कई शिक्षा केन्द्रों को स्थापित कर राजकीय संरक्षण प्रदान किया था । जगद्दल विश्वविद्यालय की स्थापना भी उसी प्रक्रिया का एक भाग था। इस शिक्षा केन्द्र के सम्बन्ध में अत्यल्प जानकारी प्राप्त होती है। जगद्दल

---

1. आर0के0मुकर्जी: पूर्वोक्त, पृ0 596.
2. वहीं,
3. वहीं,
4. एस0के0दास: एजूकेशनल सिस्टम आफ दि एन्शियेन्ट हिन्दूज, पृ0382.

बौद्ध महाविहार की स्थापना राजा रामपाल ने ।1084 से 1130ई0में । गंगातट पर रामावती नामक अपनी राजधानी में किया था[1] ग्यारहवीं शताब्दी में जगदल एक महत्वपूर्ण शिक्षा केन्द्र के रूप में कार्य कर रहा था और यह प्रमुख बौद्ध शिक्षा केन्द्र के रूप में जाना जा सकता था ।[2]

जगदल विश्वविद्यालय में अनेक सुविख्यात विद्वान आचार्य थे। जिनमें विभूतिचन्द्र, दानशील, मोक्षाकर गुप्त आदि प्रमुख थे ।[3] विभूति चन्द्र ने तिब्बती भाषा में बहुत सी कृतियों का अनुवाद किया था।[4] दानशील[5] तिब्बती तथा संस्कृत दोनों भाषाओं का समान रूप से विद्वान था। जिसको पंडित, महापंडित, उपाध्याय और आचार्य की उपाधि से विभूषित किया गया था। दानशील ने लगभग चौवन कृतियों का अनुवाद कार्य किया था । मोक्षाकर गुप्त[6] तर्कशास्त्र का विद्वान था जिसने तर्कशास्त्र का तिब्बती में अनुवाद किया था। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि जगदल बौद्ध महाविहार में विद्वानों की ख्याति हिमालय पार कर गयी थी। इनका तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान था, जगदल शिक्षा केन्द्र में विविध विषयों के उच्चकोटि के अनुवादिक कार्य भी सम्पादित किया जाता था । उपलब्ध स्रोतों के आधार पर कहा जा सकता है कि इस शिक्षा संस्था में एक हजार के आस-पास विद्यार्थियों की संख्या रही होगी । जगदल विश्वविद्यालय में भी विक्रमशिला की भाँति निपुण स्नातकों को "पंडित" की उपाधि से विभूषित किया जाता था ।[7]

---

1. आर0के0मुकर्जी: पूर्वोक्त, पृ0 595; पी0एन0बोस: पूर्वोक्त, पृ0 143.
2. पी0एल0रावत: भारतीय शिक्षा का इतिहास, पृ0 83.
3. आर0के0मुकर्जी : पूर्वोक्त, पृ0 595.
4. पी0एन0बोस: पूर्वोक्त, पृ0 145.
5. वहीं, पृ0 150. : , आर0के0मुकर्जी: पूर्वोक्त, पृ0 595.
6. वहीं, पृ0 155.
7. वहीं, पृ0 150.

जगदल बौद्ध महाविहार लगभग सौ वर्षों तक एक प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र के रूप में कार्य करता रहा, और इसका अवसान भी सम्भवतः बख्तियार खिलजी के घृणित हाथों 1203ई0 के आस-पास हुआ होगा ।

अन्य शिक्षा-केन्द्र

विवेच्यकाल में ऐसे भी कुछ स्थल थे जो या तो किसी राज्य की राजधानी थे या तीर्थस्थल। इन स्थानों का सामाजिक महत्व होने के कारण कालान्तर में ये शिक्षा केन्द्र के रूप में विकसित हो गये ।

नदिया

पूर्वी बंगाल में भागीरथी तथा जलांगी के संगम पर स्थित वर्तमान नवद्वीप विवेच्यकाल में नदिया के नाम से विख्यात था । राजा लक्ष्मण सेन के काल में (1178ई0 से 1205ई0) नदिया शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र तथा राजधानी था ।[1] हिन्दू शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र के रूप में इसकी स्थापना हुई थी । मुस्लिम शासकों के शासन काल में भी यह हिन्दू शिक्षा का एक प्रसिद्ध केन्द्र था ।[2] नदिया विश्वविद्यालय की शिक्षा नवद्वीप शान्तिपुर एवं गोपाल पाड़ा नामक तीन केन्द्रों में दी जाती थी और कभी-कभी विद्यार्थी यहां बीस वर्ष तक अध्ययन करते थे ।[3]

राजा लक्ष्मण सेन स्वयं विद्वान तथा साहित्य प्रेमी थे ।[4] उनके मंत्री

----

1. आर0के0मुकर्जी: पूर्वोक्त पृ0 598, 99.

2. वही.

3. पी0एन0रावत: पूर्वोक्त, पृ0 85.

4. मजूमदार : दि स्ट्रगल फार एम्पायर, पृ0 40.

हलायुध भी अपनी महत्वपूर्ण कृतियाँ ब्राम्हण सर्वस्व, स्मृति सर्वस्व, मीमांसा-सर्वस्व और न्याय सर्वस्व के कारण अधिक प्रसिद्ध हुये । हलायुध के भाई ने हिन्दू धर्म की महत्वपूर्ण कृति पशुपति पद्धति लिखी ।[1] भारतीय साहित्य की अमर कृति "गीतगोविन्द" के रचयिता आचार्य जयदेव, स्मृति विवेक के लेखक शूलपाणि, कवि उमापति तथा पवनदूत के रचनाकार धोयी नदिया विश्वविद्यालय से सम्बन्धित प्रमुख विद्वान थे ।[2] इसी प्रकार विभिन्न विधाओं में अनेक प्रसिद्ध विद्वानों के कारण इस शिक्षा संस्था की ख्याति फैली।[3] इन उद्धरणों से भारतीय हिन्दू शिक्षा के विकास में नदिया का महत्व परिलक्षित होता है। जिसने तद्युगीन समाज में हिन्दू विधाओं को संगठित एवं प्रसारित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया होगा ।

नदिया विश्वविद्यालय के अनेक प्रतिष्ठित विद्वानों ने अपने शैक्षिक और ज्ञान परक विचारों का ग्रन्थों का आकार प्रदान किया था । जिनमें गणेश उपाध्याय के शिष्य तथा न्यायशास्त्र के सूत्रपातकर्ता वासुदेव सार्वभौम प्रमुख है।[4] कालान्तर में शिष्य रघुनाथ शिरोमणि ने न्याय शास्त्र की एक नवीन विचार धारा स्थापित करके इसे प्रसिद्धी दिलायी । रघुनन्दन और कृष्णानन्द कानून और तंत्र विद्या के यहाँ प्रमुख आचार्य थे ।[5] इस हिन्दू शिक्षा संस्था में ज्ञान और भक्ति जैसे विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी ।[6]

---

1. आर0के0मुकर्जी : पूर्वोक्त, पृ0 598.
2. वहीं, पृ0 599,
3. वहीं.
4. वहीं.
5. एस0के0दास: पूर्वोक्त, पृ0 333.
6. ए0एल0 श्रीवास्तव: मिडिवल इण्डियन कल्चर, पृ0 112.

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि नदिया शिक्षा केन्द्र में काव्य शास्त्र, व्याकरण, धर्म और दर्शन, तर्कशास्त्र, नीति और कानून जैसे विविध विषयों की शिक्षा दी जाती थी। राजकीय संरक्षण, विख्यात विद्वानों की मण्डली, ग्रन्थों की विशालता से प्रमाणित होता है कि विद्यार्थियों की भी संख्या अधिक रही होगी।

नदिया विश्वविद्यालय का पराभव तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बख्तियार खिलजी के आक्रमण और मुस्लिम शासकों के कुप्रभाव का परिणाम था।

कन्नौज

उत्तरी भारत में कनौज का उत्कर्ष सम्राट हर्ष के समय से ही प्रारम्भ हो गया था। यह नगरी मात्र राजधानी ही नहीं अपितु हिन्दू और बौद्ध शिक्षा की केन्द्र स्थली भी थी। सातवीं शदी से बारहवीं सदी तक अनवरत इसका सामाजिक और सांस्कृतिक विकास होता रहा।

सम्राट हर्ष स्वयं विद्वान एवं विद्वानों का आश्रयदाता था। बाणभट्ट जैसे महाकवि उसके राजदरबार की शोभा बढ़ाते थे। हर्ष स्वयं हिन्दू होते हुए भी आचार्य दिवाकर के प्रभाव से बौद्ध धर्म के प्रति अनुरक्त हुआ था।[1] कन्नौज के आचार्य अपने शिष्यों को विविध विषयों का अध्ययन कराते थे। बाण भट्ट शैव होते हुए भी बौद्ध दर्शन का ज्ञाता था। बौद्ध और हिन्दू धर्म के बीच अनेक दार्शनिक शास्त्रार्थ कनौज में हुए थे। ह्वेनसांग ने स्वीकार किया है कि कन्नौज के ब्राम्हण प्रकाण्ड विद्वान थे।[2] राजा हर्ष ने कन्नौज में एक धर्म सम्मेलन का आयोजन कराया था जिस का मुख्य अतिथि ह्वेनसांग था। ह्वेनसांग ने इस सभा में महायान शाखा के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था इस सभा में अन्यधर्म वालोंने अपना संतोष व्यक्त किया, जिसका उल्लेख इत्सिंग ने किया है।[3] ह्वेनसांग कन्नौज

---

1. बाणभट्ट, हर्षचरित, अष्टम उच्छ्वास, शबर युवकनिघति वार्तालाप.
2. आर0के0मुकर्जी: पूर्वोक्त, पृ0 513; डा0जयशंकर प्रसाद मिश्र पूर्वोक्त, पृ0 566.
3. प्राचीन राजवंश और बौद्ध धर्म, पृ0 395.

में रहकर तीन माह अध्ययन किया था। उसने यहाँ सौ मठों का उल्लेख किया है, जिनमें दोनों सम्प्रदाय के दस हजार भिक्षु रहते थे।[1] बाण भट्ट ने हर्ष चरित में लिखा है कि बौद्ध आचार्य दिवाकर के आश्रम में जब सम्राट हर्ष पहुँचे तो अनेक शिष्य भदन्त दिवाकर से शिक्षा ग्रहण कर रहे थे।[2] इस प्रकार कन्नौज बौद्ध शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था जिसका बौद्धिक लाभ हिन्दू भी उठाते थे।

प्रतिहारों के काल में भी कन्नौज पूर्व की भाँति शिक्षा का केन्द्र बना रहा। काव्य मीमांसा, बाल रामायण, कर्पूर मंजरी, भुवनकोश, हरविलास आदि के लेखक राजशेखर प्रतिहार राजा महेन्द्रपाल के राजदरबारी थे।[3] चण्डकौशिक के लेखक क्षेमिश्वर भी राजा महीपाल के दरबार में थे।[4]

गहड़वाल शासक स्वयं विद्वान और विद्वानों के उदार संरक्षक थे। राजा गोविन्दचन्द्र को उसके लेखों में विविध विद्याविचार वाचस्पति" कहा गया है। वह बौद्ध भिक्षु शंकर रक्षित तथा उनके शिष्य बागीश्वर रक्षित का सम्मान करने के लिए उनके द्वारा संचालित जेतवन विहार को छः गाँव दान में दिया था। कृत्यकल्प तरु "के लेखक लक्ष्मीधर भट्ट राजा गोविन्द चन्द्र के मंत्री थे।[5] राजा जय चन्द्र ॥1170ई0से ॥1194ई0॥ के दरबार में भी अनेक विद्वान रहते थे।[6] इनमें नैषधीय चरित के लेखक श्री हर्ष विशेष उल्लेखनीय है।[7]

---

1. वाटर्स, भाग-1, पृ0 340-44.
2. बाण भट्ट: हर्ष चरित, अष्टम उच्छ्वास, दिवाकर मित्र आश्रम वर्णन,
3. डा0 जयशंकर प्रसाद मिश्र : पूर्वोक्त, पृ0 566.
4. कर्पूर मंजरी, भाग -1, पृ0 58-59.
5. ब्रजेन्द्र नाथ शर्मा: सोशल एण्ड कल्चरल हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया, पृ0 51.
6. प्रबन्ध कोश, पृ0 54.
7. वही, पृ0 54-55.

इस प्रकार कन्नौज की पुपुष्ट शैक्षिक परम्परा हमारे अध्ययन काल में निरन्तर प्रवहमान थी। जिसका मुख्य कारण तद्युगीन कन्नौज पर शासन करने वाले शासकों का विद्यानुरागी होना था। उनके समय में बिना भेद-भाव के विभिन्न मतावलम्बियों के शिक्षालयों को राजकीय संरक्षण प्राप्त था। किन्तु 1194ई0 के चन्दावर (एटा) के युद्ध में मुहम्मद गोरी द्वारा जयचन्द्र की पराजय और मृत्यु के बाद कन्नौज की ख्याति क्रमशः धूमिल होती गयी।

काशी

काशी प्राचीन काल से ही शिक्षा केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित है। ईसापूर्व की सातवीं शताब्दी में उत्तरी भारत में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शिक्षा केन्द्र होने की जानकारी प्राप्त होती है।[1] उपनिषद काल में काशी एक प्रतिष्ठित शिक्षा केन्द्र के रूप में विकसित हो चुका था।[2] प्रारम्भ में काशी के राजकुमारों का तक्षशिला में आकर शिक्षा ग्रहण करने का उल्लेख तो मिलता ही है साथ ही काशी के अनेक आचार्य भी तक्षशिला के स्नातक थे।[3] जिससे काशी की शैक्षिक ख्याति बढ़ने लगी। और कालान्तर में इन शिक्षित काशी वासियों के प्रभाव से सातवीं शताब्दी तक काशी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शिक्षा केन्द्र के रूप में विकसित हो गया। मत्स्य पुराण[4] के अनुसार यहां सर्वत्र अध्ययन और दान चलता रहता था।

---

1. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ0 87.
2. वहीं, पृ0 86-87.
3. वहीं. पृ0 87.
4. मत्स्य पुराण, 181, 17: "ध्यानमध्ययनं दानं सर्वं भवति चाक्षयम्;

अति प्राचीन काशी हमारे अध्ययन काल ।700ई0 से ।200ई0। में भी शिक्षा का प्रसिद्ध केन्द्र था ।[1]यहाँ अध्ययन के लिए देश-देशान्तरों के विद्यार्थी इस विद्यानगरी की ओर आकर्षित होते थे । ग्यारहवीं शताब्दी में पंजाब से विद्वानों के विस्थापन से काशी और कश्मीर में विद्वानों की संख्या बढ़ गयी थी और काशी और कश्मीर ही दो हिन्दू शिक्षा के मुख्य-केन्द्र थे ।[2]अल्बेरूनी ने भी लिखा है कि हिन्दू विद्याएं हमारे विजित प्रदेशों से भागकर कश्मीर और काशी जैसे सुदूर स्थानों में चली गयी ।[3]

काशी का शैक्षिक विकास बौद्ध एवं ब्राम्हण दोनों ही शिक्षा केन्द्रों के रूप में हुआ था । ह्वेनसांग के यात्रा वृतान्त से ज्ञात होता है कि काशी के तीस बौद्ध मठों में तीन हजार भिक्षु रहते थे ।[4]वह आगे लिखता है कि यहाँ बहुमंजिले तथा सुसज्जित कक्षों वाले भवन अत्यन्त देदीप्यमान और मनोहर लगते थे ।[5] ।2वीं शताब्दी [6] में गहड़वाल दान पत्रों के प्राप्तकर्ता अधिकांश ब्राम्हण संस्कृत की पाठशालाएं और विद्यालय उत्साह पूर्वक चलाते थे ।शंकराचार्य जैसे विद्वान दार्शनिक के काशी आकर यहाँ के विद्वानों द्वारा अपने सिद्धान्तों को स्वीकृत कराने का उल्लेख मिलता है।[7] कश्मीरी कवि श्री हर्ष जो गहड़वाल शासक विजयचन्द्र के सभासद थे ।उन्होंने "नैषध चरित" की रचना काशी में रहकर ही की थी ।8

---

1. ए0 इं0, भाग-19, पृ0 296.
2. अल्तेकर :पूर्वोक्त, पृ0 88.
3. जयशंकर मिश्र: ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ0 176.
4. वाटर्स, ह्वेनसांग, भाग-2, पृ0 47.
5. वहीं, पृ0 48.
6. अल्तेकर :पूर्वोक्त, पृ0 88.
7. वहीं,
8. डा0जयशंकर प्रसाद मिश्र:,प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0 565.

विवेच्य काल में धर्म, दर्शन, व्याकरण, काव्य और न्याय पर काशी के पंडितों ने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे है।[1] तद्युगीन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वाराणसी,[2] गया[3] और नागर[4] तीर्थ में वेद आदि का अध्ययन होता था तथा वाराणसी में अनेक उच्चतम विद्यालय थे, जहाँ अनेकानेक विद्याओं की शिक्षा दी जाती थी। 1192ई0 के मलय सिंह के रीवाँ अभिलेख के लेखक काशी निवासी पुरूषोत्तम तर्क, व्याकरण, मीमांसा, वेदान्त तथा योगदर्शन के विद्वान थे।[5]

उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि विवेच्य काल में काशी वैदिक और बौद्ध शिक्षा के केन्द्र के रूप में समकालीन शैक्षिक नगरों में प्रमुख स्थान रखता था। जहाँ पर विविध विद्याओं का अध्ययन-अध्यापन होता था। क्यों कि अल्बेरूनी ने काशी को हिन्दू विद्याओं का श्रेष्ठतम शिक्षालय कहा है।[6]

बारहवीं शताब्दी के पश्चात् जब काशी पर मुसलमानों का अधिकार हो गया तो, कुतुबुद्दीन ऐबक ने अनेकों मंदिरों को धराशायी करादिया था तथा नये शासकों द्वारा धर्म परिवर्तन जोर पकड़ रहा था। परिणाम स्वरूप काशी के विद्वानों ने दक्षिण भारत में शरण ली।[7]

---

1. अलतेकर : पूर्वोक्त, पृ0 89.
2. ए0इं0: भाग- 19. पृ0 299.
3. गौड़लेख माला: पृ0 112. श्लोक-3, कृष्णद्वारिका मंदिर अभिलेख.
4. इं0ऐ0, भाग-11, पृ0 102.
5. ए0इं0, भाग-19. पृ0296.
6. अल्बेरूनीज इण्डिया, भाग-1, पृ0 173.
7. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ0 88.

काँची
====

भारत के वर्तमान तमिलनाडु राज्य में अवस्थित काँची पल्लव राज्य की राजधानी थी। पल्लव वंशी शासकों के नेतृत्व में काँची दक्षिण भारत का प्रसिद्ध शैक्षिक और सांस्कृतिक केन्द्र बन गया था। काँची शिक्षा केन्द्र का विकास विश्वविद्यालय के रूप में हुआ था।[1] यहाँ तर्कशास्त्र, न्यायशास्त्र, व्याकरण एवं साहित्य आदि की शिक्षा की उत्तम व्यवस्था थी।[2] इस प्रकार हमारे अध्ययन काल (700ई0-से 1200ई0) में काँची दक्षिण भारत का एक शक्तिशाली नगर बन गया था।[3] समुद्रगुप्त के शासन काल में भी इसकी अत्यधिक प्रतिष्ठा थी।[4]

काँची दक्षिण भारत का एक प्रसिद्ध बन्दरगाह भी था। पहली शताब्दी ईस्वी में काँची के चीन से व्यापारिक सम्बन्ध था। चीनी लोग[5] यहाँ से मोती शीशा आदि वस्तुएं ले जाते थे और इनके बदले में सोना और रेशम दे जाते थे। पल्लव शासक नरसिंह वर्मन द्वितीय (लगभग 700ई0 से 728ई0) ने एक दूतमण्डल चीन भेजा था। उसके समय में सामुद्रिक व्यापार उन्नति पर था। लंका से काँची के आवागमन का संकेत ह्वेनसांग के विवरण से भी प्राप्त होता है। ह्वेनसांग लिखता है कि काँची में उसकी भेंट लंका के बौद्ध भिक्षुओं से हुई थी जिनका ज्ञान नालन्दा

---

1. डा0 जयशंकर प्रसाद मिश्र: प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, -पृ0 566.
2. पी0एल0रावत: भारतीय शिक्षा का इतिहास: पृ0 85.
3. डा0 जयशंकर प्रसाद मिश्र: पूर्वोक्त, पृ0 566.
4. वही.
5. डा0 ओम प्रकाश: प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 205.

के कुलपति शीलभद्र के ज्ञानसे कम था ।[1] ह्वेनसांग 640ई0 में जब पल्लव राजा नरसिंह वर्मन प्रथम का शासन चल रहा था, कांची की यात्रा परगया था ।[2] बन्दरगाह नगरी होने के कारण अन्य देशों से शैक्षिक और सांस्कृतिक आदान प्रदान स्वाभाविक ही रहा होगा । भारत के दक्षिण भाग के निवासियों के अतिरिक्त विभिन्न प्रदेशों के निवासी यहां शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे ।[3]

ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुशीलन से ज्ञान होता है कि विवेच्यकाल में कांची वैष्णव, शैव और बौद्ध मतानुयायियों का केन्द्र था । इसे भारत का प्रमुख धार्मिक नगर माना गया है। इसीलिए कांची को दक्षिण की काशी भी कहा जाता है। इस शिक्षा केन्द्र की उत्कृष्ट शैक्षिक व्यवस्था से प्रेरित होकर वैदेशिक शिक्षा प्रेमी भी आकृष्ट होते थे । कांची के सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व का अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि गौतम बुद्ध का आगमन भी यहां कई बार हो चुका था ।[4] महाकवि दण्डिन ने कांची के राजाश्रय में रहकर अनेक ग्रन्थों की रचना की थी ।[5] शूद्रक ने भी अपने नाटकों का प्रणयन यहीं पर किया था ।[6] कदम्बवंशी राजकुमार मयूर वर्मन ने कांची में ही शिक्षा ग्रहण की थी ।[7] यह भी कहा जाता है कि वात्स्यायन

----

1. वाटर्स, भाग-2, पृ0 226.

2. वहीं.

3. डा0जयशंकर प्रसाद मिश्र: पूर्वोक्त, पृ0 567.

4. वाटर्स, भाग-2, पृ0 226.

5. डा0जयशंकर प्रसाद मिश्र: पूर्वोक्त, पृ0 567.

6. वहीं.

7. वहीं.

और दिङ्नाग जैसे महान विद्वान कांची विश्वविद्यालय में रहकर पढ़े थे।[1] भारवि भी सम्भवतः इसी युग के थे।[2] कुछ विद्वान भाव के नाटकों का रचनाकाल पल्लव नृपति नरसिंह वर्मन द्वितीय ।लगभग 700ई0से728ई0। के समय में मानते है।वस्तुतः संस्कृत भाषा और साहित्य का उत्कर्ष कांची में अत्यन्त तीव्र गति से हुआ था।[3]

ह्वेनसांग ने अपने यात्रा वृत्तान्त में कांची की विद्या सम्पन्नता पर अत्यधिक प्रकाश डाला है।उसने लिखा है कि कांची के नागरिक विद्यानुरागी,जनसेवक और विश्वास पात्र थे।[4] ह्वेनसांग ने सौ बौद्ध मठ, जिनमें दस हजार भिक्षु निवास करते थे।और लगभग अस्सी मंदिरों का भी उल्लेख किया है।[5]

इस नगर के चुतर्दिक एक सुदृढ़ प्राकार तथा गहरी परिखा विद्यमान थी।नगर की गन्दगी को बड़े नालों द्वारा परिखा में गिराया जाता था।[6] जिससे नगर के मनोरम वातावरण का आभास होता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विवेच्ययुग में कांची दक्षिण भारत में एक अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र के रूप में पूर्णतः स्थापित हो चुका था।जहां वैदिक और बौद्ध शिक्षा का विभिन्न शिक्षा संस्थाओं में अध्ययन-अध्यापन होता था,और यहां विभिन्न सम्प्रदायों के विद्वान निवास करते थे।

---

1. डा0जयशंकर प्रसाद मिश्र:पूर्वोक्त,पृ0 567.
2. वही.
3. वही.
4. वाटर्स,भाग 2,पृ0 226.
5. वही.
6. अय्यर:टाउन प्लानिंग इन ऐन्शियन्ट डक्कन,पृ0 70.

धारा
======

विवेच्यकाल में धारा नगरी शिक्षा और ज्ञान का प्रसिद्ध केन्द्र थी । यह मालवा के परमार राजाओं की राजधानी थी ।परमार राजाओं विशेषकर मुंज और भोज के समय धारा में विद्या और विद्वानों को पर्याप्त राजाश्रय प्राप्त था ।जिससे उनके राज्य में शिक्षा का अत्यधिक विकास हुआ। यहां राजा भोज द्वारा स्थापित "भोजशाला" एक प्रमुख शिक्षा केन्द्र के रूप में विख्यात थी।जहां दूर-दूर से विद्यार्थी अध्ययन के लिए आते थे धारा को ब्राम्हणीय शिक्षा का प्रमुख केन्द्र माना जाता था ।[1] इस प्रसिद्ध भोजशाला को बाद में मुसलमानों ने मस्जिद के रूप में परिवर्तित कर दिया था ।[2]

परमार राजा मुंज इतिहास में वाक्पति के नाम से प्रसिद्ध है। इस विद्वान सम्राट की राजसभा अनेक विद्वानों से सुशोभित थी।नवसाहसांक चरित के रचयिता पद्मगुप्त परिमल ने यहीं निवास करके अपनी रचनाएं की थीं।[3] संस्कृत साहित्य का प्रसिद्ध ग्रन्थ "दशरूपक" का लेखक धनंजय और "यशोरूपावलोक" का पुण्यनकर्ता धनिक भी इसी राजधानी के आश्रित थे ।[4] हलायुध,अमितगति तथा आचार्य शोभन आदि विद्वान[5] भी इसी राजा के शासन काल में थे ।

राजा भोज एक प्रकाण्ड विद्वान और प्रतिभा सम्पन्न शासक था । वह राजनीति,दर्शन,ज्योतिष,वस्तु,काव्य,साहित्य,व्याकरण,चिकित्सा आदि विविध विद्याओं का मर्मज्ञ था और इन विद्याओं से सम्बन्धित

----

1. आर0के0मुकर्जी: पूर्वोक्त,पृ0 375.

2. आर0एस0त्रिपाठी: हिस्ट्री आफ एन्शियेन्ट इण्डिया,पृ0 383.

3. डा0जयशंकर प्रसाद मिश्र: पूर्वोक्त,पृ0 565.

4. वही.

5. वही.

उसने अनेक ग्रन्थों की रचना भी की थी। उसकी उपाधि कविराज थे।[1] भोज के राज दरबार में अनेक विद्वान और लेखक रहते थे। जिनमें विज्ञानेश्वर धनपाल, उवट भास्कर भट्ट, दामोदर मिश्र आदि अत्यधिक ख्याति प्राप्त थे।

राजा भोज की मृत्यु के बाद धारा नगर की शैक्षिक ख्याति प्रभावहीन हो गयी थी। भोज की मृत्यु पर किसी कवि ने ठीक ही कहा - "उसकी मृत्यु से धारा आधारहीन हो गयी, सरस्वती आश्रय विहिन हो गयी और समस्त विद्वान खण्डित हो गये।[2]

मतिपुर

हमारे अध्ययन काल में मतिपुर बौद्ध शिक्षा नगर (बिजनौर-, उ0प्र0) के रूप में प्रसिद्ध था। ह्वेनसांग के समय में यहां दस बौद्ध विहार थे जिसमें आठ सौ भिक्षु रहते थे।[3] ह्वेनसांग ने मतिपुर के विशाल संघाराम में रहकर आचार्य मित्रसेन से शिक्षा प्राप्त किया था।[4] इस बौद्ध विहार में अनेक ख्यातिलब्ध विद्वान शिक्षा देने का कार्य करते थे जिनमें संघभद्र प्रमुख थे।[5] संघभद्र के पश्चात् अभिधम्म कोष शास्त्र के प्रणयनकर्ता प्रसिद्ध विद्वान आचार्य वसुबन्धु ने मतिपुर बौद्ध विहार को सुशोभित किया। यहां ह्वेनसांग ने कई मास तक अध्ययन किया था। मतिपुर बौद्ध विहार में सर्वास्तिवादियों की प्रमुख हीनयान विचार धारा को समर्थन प्राप्त था।[6] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि मतिपुर बौद्धशिक्षा संस्था

---

1. साधितं विहितं दत्तं ज्ञातं तद्यन्न केनचित् ।
   किमन्यत्कविराजस्य श्री भोजस्य प्रशस्यते ।।
   उदयपुर प्रशस्ति
2. अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती ।
   पण्डिता खण्डिता सर्वे भोजराजे दिवंगते ।।
3. वाटर्स, भाग -1, पृ0 322.
4. डा0 जयशंकर प्रसाद मिश्र: पूर्वोक्त, पृ0 524.
5. दि शास्त्र मास्टर गुनप्रभ कम्पोज्ड एटहन्ड्रेड पटीज, पृ0 512-13.
6. आर0के0मुकर्जी: पूर्वोक्त, पृ0 512.

महाविद्यालय स्तर की रही होगी। इस विहार की आर्थिक व्यवस्था अन्य शिक्षा संस्थाओं की भांति समाज एवं राजसत्ता के सहयोग से सम्पन्न होती होगी। राजनैतिक उथल-पुथल के कारण कालान्तर में इस विहार का अन्त हो गया।

जालन्धर

वर्तमान पंजाब राज्य का जालन्धर नगर हमारे अध्ययन काल में एक प्रमुख शिक्षा केन्द्र के रूप में जाना जाता था। वैसे तो यहां हिन्दू शिक्षा का भी उल्लेख प्राप्त होता है, फिर भी मुख्य रूप से यह बौद्ध शिक्षा का ही केन्द्र था। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने इस शिक्षा नगर में चार माह तक विविध बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया था, जिससे इस बौद्ध विहार के शैक्षिक महत्त्व का परिज्ञान होता है।[1] एक अन्य विवरण में ह्वेनसांग द्वारा आचार्य नागार्जुन के प्रमुख शिष्य ज्ञान-विज्ञान पर वार्ता का उल्लेख प्राप्त होता है।[2] ह्वेनसांग के समय में जालन्धर नगर में लगभग पचास बौद्ध विहार थे।[3] यह नगर महायान और हीनयान दोनों सम्प्रदाय का प्रमुख शिक्षा स्थल था, जहां दो हजार के लगभग बौद्ध भिक्षु निवास करते थे।

ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि यद्यपि जालन्धर शिक्षा केन्द्र बंगाल और बिहार के बौद्ध शिक्षा केन्द्रों की भांति प्रसिद्ध नहीं था, फिर भी यहां पर प्रकाण्ड विद्वान अध्ययन-अध्यापन

---

1. बील: लाइफ आफ ह्वेनसांग, भाग-1, पृ0 297.
2. बील: बुद्धिस्ट रिकार्ड्स आफ द वेस्टर्न वर्ल्ड्स ट्रांसलेशन फ्राम चाइनीज-वाई ह्वेनसांग, पृ0 74-76.
3. वाटर्स, ह्वेनसांग, भाग-1, पृ0 296.

कार्य करते थे। जिससे प्रतीत होता है कि जालन्धर शिक्षा केन्द्र की शैक्षिक व्यवस्था महाविद्यालय स्तर की रही होगी।

तिलधाका

विवेच्ययुग का तिलधाका या तिलसा मगध क्षेत्र का एक अन्य प्रमुख बौद्ध विहार था।[1] इत्सिंग के अनुसार यह नालन्दा से दो योजन दूर पश्चिम में स्थित था, जो वर्तमान समय में तिल्लारा या तिहारे नाम से प्रसिद्ध है।[2] तिलधाका बौद्ध विहार के भवन के बारे में ह्वेनसांग लिखता है कि इस तिमंजिले भवन में चार आंगन, विशालकक्ष।हाल। ऊंचा बरामदा और प्रशस्त मार्ग भी था।[3] जिससे विहार की विशालता का ज्ञान होता है।

तिलधाका का शिक्षा केन्द्र में भी नालन्दा एवं विक्रमशिला की भांति प्रवेशार्थियों को कठिन परीक्षा से गुजरना पड़ता था। और शास्त्रार्थ में भाग लेना पड़ता था।[4] इस बौद्ध विहार में एक हजार महायानी भिक्षु निवास करते थे।[5] इस प्रकार आवास एवं भोजन की उत्तम व्यवस्था रही होगी, वहां आचार्यों की संख्या भी पर्याप्त होगी।

तिलधाका बौद्ध विहार सभी देशों के विद्वानों का एक प्रतिष्ठित संगम स्थल था। इन विद्वज्जनों में सहयोग एवं बन्धुत्व की भावना

----

1. डा० बिन्देश्वरी प्रसाद सिन्हा: दि कॉम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री आफ बिहार, पृ० 380.
2. कनिंघम: एन्शियेन्ट ज्याग्रफी आफ इण्डिया, जिल्द 1, पृ० 456, ज०ए०सो०बं०, पृ० 250, 1872.
3. डा० बी०पी०सिन्हा: पूर्वोक्त, पृ० 380.
4. वाटर्स, भाग-2, पृ० 165.
5. डा० बी०पी०सिन्हा: पूर्वोक्त, पृ० 380.

निहित होती थी।[1] एक शिक्षा केन्द्र के आचार्य बिना किसी कठिनाई के दूसरे शिक्षा केन्द्र में पदभार ग्रहण कर सकते थे।[2] ह्वेनसांग के विवरण से ज्ञात होता है कि उसके समय में यह बौद्ध विहार प्रसिद्ध भिक्षु प्रज्ञा भद्र के नियन्त्रण में था।[3] इत्सिंग के समय यहाँ प्रख्यात बौद्ध भिक्षु ज्ञानचन्द्र निवास करते थे।[4]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि हमारे अध्ययन काल में तिलधाका बौद्ध विहार महायान बौद्ध मतावलम्बियों का प्रमुख शिक्षा केन्द्र था। जिसका पराभव राजनैतिक उथल-पुथल रहा होगा।

मिथिला

अति प्राचीन काल से ही मिथिला नगरी भारतीय संस्कृति का एक प्रमुख स्थल रहा है। वैदिक युग में भी इसकी पूर्ण ख्याति थी।[5] उपनिषद काल का विदेह नगर विवेच्य युग में मिथिला के नाम से जाना जाता था राजा जनक के समय में दूरदेशों के विद्वान राजभवन में आकर विभिन्न दार्शनिक विषयों पर शास्त्रार्थ में भाग लेते थे।[6] जिसके कारण मिथिला को सर्वत्र ख्याति प्राप्त हुई।

---

1. डा०बी०पी०सिन्हा: पूर्वोक्त, पृ० 380,
2. आर०आर०दिवाकर: बिहार थ्रो दि एजेज, पृ० 345.
3. वाटर्स, भाग -2, पृ० 106.
4. ताकाकुसु, इत्सिंग, पृ० 184.
5. आर०के०मुकर्जी: पूर्वोक्त, पृ० 596.
6. वहीं.

हमारे अध्ययन काल के उत्तरार्ध में कर्णाटक वंश के शासकों के समय में भी मिथिला नगर शिक्षा केन्द्र के रूपमें प्रसिद्ध था। मिथिला शिक्षा केन्द्र में ही गंगेश उपाध्याय (1093ई0 से 1150ई0) ने तर्कशास्त्र की नूतन विचार धारा "नव्यन्याय" का सूत्रपात किया तथा अपने पाण्डित्य पूर्ण प्रयास से तत्वचिन्तामणि "नामक पुस्तक की रचना की।[1] आनन्द सूर तथा अमर चन्द्र सूर द्वारा व्यक्त न्याय विरोधक मत का भी गंगेश उपाध्याय ने खण्डन किया। गंगेश के पुत्र वर्धमान ने भी न्याय शास्त्र पर अनेक विद्वतापूर्ण लेखन किये।[2] यहाँ के अन्य विद्वानों आचार्य पक्षधर, महेश ठाकुर, रघुनन्दन दास राय ने भी न्याय शास्त्र की परम्परा को सम्वर्धित करने के लिए अपना महत्वपूर्णयोग दान दिया। एक अन्य विद्वान शंकर मिश्र ने वैशेषिक न्याय तथा स्मृति पर महत्वपूर्ण कार्य किया था।[3] नदिया शिक्षा केन्द्र में न्यायशास्त्र के सूत्रपातकर्ता वासुदेव सार्वभौम ने मिथिला शिक्षा केन्द्र में ही न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था। मिथिला के ही विद्वान विद्यापति ने कृष्ण काव्य का प्रणयन किया था।[4] यहाँ का ख्यातिलब्ध विद्वान जगधर ने श्रीमद् भगवत गीता, देवी महात्म्य, मेघदूत, गीत गोविन्द, मालतीमाधव आदि ग्रन्थों की टीका कर मिथिला शिक्षा केन्द्र को अत्यधिक ख्याति दिलायी।[5] इसी शिक्षा संस्था के विद्वान मिसरु मिश्र ने वैशेषिक दर्शन पर "पदार्थ चन्द्र" नामक पुस्तक लिखी।

---

1. उमेश मिश्र: भारतीय दर्शन, पृ0 181.
2. सर्वपल्ली राधा कृष्णन: इण्डियन फिलासफी, भाग-2, पृ0 41.
3. आर0के0मुकर्जी : पूर्वोक्त, पृ0 597.
4. वहीं. : , पी0एन0राव: भारतीय शिक्षा का इतिहास, पृ0 83.
5. आर0के0 मुकर्जी : पूर्वोक्त, पृ0596; वहीं.

जिस पर अत्यन्त महत्वपूर्ण टिप्पणी चन्द्रसिम्हा की मुख्य विदुषी रानी लक्ष्मीदेवी ने की थी।[1] इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों से तद्युगीन समाज में मिथिला का शैक्षिक महत्व रेखांकित होता है।

यद्यपि मिथिला की शैक्षिक व्यवस्था का पूर्ण विवरण प्राप्त नहीं होता है फिर भी उपलब्ध साधनों से मिथिलानगर की शैक्षिक सम्भावना का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है। जिसके आधार पर यह कही जा सकती है कि मिथिला में अध्ययन-अध्यापन की एक विशिष्ट परम्परा विद्यमान् थी, और इसे प्रमुख शिक्षा केन्द्र के रूप में जाना जाता था।

==================

1. आर०के०मुकर्जी : पूर्वोक्त, पृ० 597.

पंचम अध्याय

शैक्षिक अनुदान

शैक्षिक अनुदान

ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में आधुनिक युग की तरह शैक्षिक अर्थ व्यवस्था के लिए कोई पृथक विभाग नहीं था। बल्कि समाज के कल्याणार्थ नैतिक एवं धार्मिक भावना से प्रेरित होकर तत्कालीन राजसत्ता, सम्पन्न वर्ग और सामान्य जन अपनी क्षमता के अनुरूप स्वैच्छिक आर्थिक सहयोग देते थे। प्राचीन भारतीय इतिहास में ऐसा कोई भी प्रमाण नहीं प्राप्त होता जिससे यह कहा जा सके कि शिक्षा को अर्थ ने प्रभावित किया था अर्थ के फलस्वरूप शिक्षा संस्थाएं अथवा केन्द्र प्रभावित हुए। राजसत्ता या समाज द्वारा आर्थिक सहायता के अनन्तर भी शिक्षण संस्थाओं के ऊपर उनका कोई नियन्त्रण नहीं था। प्रबन्ध एवं व्यवस्था के क्षेत्र में संघ अपने आप में स्वतन्त्र थे। इस मत का समर्थन एक ऐसे ही प्रमाण द्वारा होता है जिसमें नरसिंह गुप्त बालादित्य ने शैक्षणिक संस्थाओं पर नियन्त्रण रखने की छूट चाही थी, परन्तु उसका यह आग्रह अस्वीकृत कर दिया गया था।[1]

स्मृति ग्रन्थों में शिक्षा को प्रोत्साहन देना राजा का आवश्यक कर्तव्य बताया गया है।[2] प्राचीन भारत में राजागण प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए शिक्षण संस्थाओं की आर्थिक सहायता प्रदान करना अपना आदर्श कृत्य समझते थे। दान दिये गये गांवों की चल तथा अचल सम्पत्ति को मिला कर इन शिक्षा केन्द्रों का खर्च चलता था जिससे अधिकांश छात्रों के लिए निःशुल्क शैक्षणिक सुविधाओं तथा आवासों का प्रबन्ध सम्भव हो। 700ई0 से 1200ई0 के काल में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिसमें राजाओं द्वारा भूमिदान और वृत्ति-दान का उल्लेख हुआ है।[3] कालान्तर में वहीं गांव शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र हो जाते थे।

---

1. वाटर्स, भाग -2, पृ0 164-65.
2. मनुस्मृति 7-82 याज्ञवल्क्य स्मृति, 1-131, शुक्रनीति 1-169, महाभारत, अध्याय, 13-59-60
3. सी0आई0आई0, जिल्द 4, भाग - 28, 36-37, 51, 72, 78, 81, 96, 102, भाग -2, पृ0 396, 501.

कल्हण के अनुसार कश्मीर के राजा जयसिंह ने विद्या केन्द्र के रूप में इतनी ऊँची इमारत का निर्माण कराया था जिसे देखने के लिए सात ऋषियों का आगमन हुआ था ।[1] अपने किसी दिवंगत सम्बन्धी की स्मृति में[2] या केवल दान के रूप में शिक्षण संस्था के लिए भवन भी बनवाये जाने के वर्णन मिलते है ।[3] पाठशाला का व्यय चलाने के लिए भूमिदान के अनेक विवरण प्राप्त होते है सालोत्गी के एक व्यापारीने एक विद्यालय की स्थापना के लिए 200 निवर्तन भूमि दीथी ।[4] इस सम्बन्ध में सौर तूर और धारवाड़ के इस प्रकार के दान भी उल्लेखनीय है ।[5] इस प्रकार स्पष्ट है कि विवेच्ययुग में राजसत्ता एवं धनिक वर्ग द्वारा शैक्षणिक संस्थाओं को आर्थिक संरक्षण प्राप्त था ।

भारतीय समाज शिक्षाप्रसार के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहा है। इसी के तहत प्रत्येक गृहस्थ का यह नैतिक कर्तव्य माना जाता था कि यदि कोई ब्राम्हचारी द्वार पर भिक्षा लेने आये तो उसे भिक्षा अवश्य दी जाये भिक्षा न देने वाला पाप का भागी होता था ।[6] इस प्रकार शिक्षा प्रसार के लिए सामान्य गृहस्थ भी सहयोग करता था ।यहीं कारण था कि गरीब से गरीब विद्यार्थी भी शिक्षा के लाभ से लाभान्वित होता था ।जातकों से ज्ञात होता है कि निर्धन छात्र जो गुरू दक्षिणा नहीं दे सकते थे, वे गुरू की गृहस्थी में काम करते थे तथा समावर्तन के बाद भिक्षा मांगकर गुरू दक्षिणा चुकाते थे ।[7]

---

1. स्टीन- दि क्रानिकल्स आफ कश्मीर ,खण्ड 2,पृ0 185.
2. ए0इं0, भाग -1,पृ0 60,युद्ध में मारे गये पुत्र की स्मृति में एक ब्राम्हण भूपति ने कुदरकोट में एक वैदिक पाठशाला के लिए भवन बनवाया था ।
3. ए0इं0, भाग-4,पृ0 60,सोलोत्गी के एक विद्यालय को राष्ट्रकूटों के मंत्री नारायण ने 945ई0 में ऐसा ही एक दान दिया था ।
4. ए0इं0 4,पृ0- 60.
5. इ0ऐ0, भाग -12,पृ0 158 और भाग 13,पृ0 94,
6. आश्वलायन धर्म सूत्र 1,2,24,25 तथा गोपथ ब्राम्हण 2,5,7
7. जातक सं0 478. ॥पच्चाधम्मेण भीक्खं चरित्वा आचारियधनं आहरिस्सामि॥

ऐसे अनेक उद्धरण प्राप्त होते है। हमारे अध्ययन काल के पूर्व भी ऐसे उदाहरण देखने को मिलतेहै, जिससे इस स्वस्थ परम्परा की प्राचीनता का ज्ञान होता है। रघुवंश से ज्ञात होता है कि "राजसत्ता और सम्पन्न वर्ग द्वारा भी स्नातकों को गुरु दक्षिणा चुकाने के लिए यथेष्ट धनदिया जाता था। शिष्य कौत्स को राजा रघु ने चौदह हजार स्वर्ण मुद्राएं प्रदान की थी।[1] विद्यार्थियों के अध्ययन के लिए छात्र वृत्तियां भी प्रदान की जाती थी।[2] अप्रत्यक्ष साधनों के अन्तर्गत अध्ययन समाप्ति के बाद राजसत्ता से विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति प्राप्त होती थी।[3] ऐसे विद्यार्थी जो राज्य सेवक नहीं बन पाते थे उन्हे भी राज्य की ओर से आर्थिक सहायता मिलती थी।[4] सातवीं शताब्दी में वल्लभी में इस प्रकार की प्रथा प्रचलित थी।

समाज के सम्पन्नव्यक्ति भी शिक्षा के आर्थिक संरचना के सहायक तत्व थे। वे अपने बालकों के शिक्षण के लिए स्वतंत्र रूप से अध्यापकों की नियुक्ति करते थे। कभी-कभी स्थानीय पाठशालाओं का व्यय भी ऐसे लोग स्वयं वहन करते थे। भाष्कराचार्य के पौत्र चांगदेव के द्वारा पाटण में इस प्रकार के विद्यालय खोलने का वर्णन मिलताहै।[5] इसी सम्बन्ध में होयसल के मंत्री पेरूमल द्वारा कर्नाटक के मुतुंगी नामक स्थान में 1290ई0 में वेद, शास्त्र, कन्नड़, मराठी आदि की शिक्षा के लिए शिक्षालय की स्थापनाउल्लेखनीय है।[6] विवेच्य युग में

---

1. रघुवंश - कालिदास, - "कौत्सप्रपदे वरतन्तु शिष्यः"
2. अलतेकर -: पूर्वोक्त, पृ0 75.
3. शुक्रनीतिसार : 1-368 तथा जातक 522.
4. इत्सिंग, 177-78.
5. ए0इं0, भाग-1, पृ0 130.
6. ए0इं0, 3 तिरूनलपुर, सं0-27.

धनाढ्य व्यक्तियों द्वारा छात्रों के लिए निःशुल्क भोजनालय की व्यवस्था की थी। कर्नाटक, कोंकण और पाटण में अनेक अन्न भण्डागार थे।[1] जिसकी पुष्टि तत्कालीन साहित्यिक एवं अभिलेखिक साक्ष्यों से होती है।

विवेच्ययुगीन साक्ष्यों[2] में अनेक मठों का विस्तृत विवरण प्राप्त होताहै जो शिक्षा के महत्वपूर्ण केन्द्र थे, और राज्य अथवा धानिक वर्ग द्वारा संरक्षण प्राप्त थे। अभय तिलकमणि ने लिखा है - विद्यामठ वह संस्था है जहाँ धनी लोग अध्यापकों और विद्यार्थियों के लिए भोजन, वस्त्र तथा अन्य वस्तुएं देकर पुण्य का अर्जन करते है।[3] ग्राम सभाओं एवं निगम और व्यापारियों के संघ द्वारा विद्यालय खोलकर उसके उसके लिए धन की व्यवस्था करने के प्रमाण भी प्राप्त हुए है।[4] बेलूर की गांव सभा ने स्थानीय पाठशाला के आंशिक खर्च के लिए भूमि दी थी।[5] धारवाड़ जिले में डम्बल की एक निगम सभा द्वारा 12वीं शताब्दी में एक संस्कृत विद्यालय चलाये जाने की जानकारी प्राप्त होती है।[6] इस प्रकार स्पष्ट है कि शैक्षिक अर्थ व्यवस्था के लिए संयुक्त प्रयास तत्कालीन समाज में प्रचलित था। जिसका अपेक्षित परिणाम भी प्राप्त होता था, जैसा कि आलोच्यकाल की शिक्षण संस्थाओं के आधार पर सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

----

1. ए०इ०, भाग-5, पृ० 22, भाग-3, पृ० 208, ज०बा०ब्रा०ए०सो०, भाग-10, पृ० 256, इं०ऐ०, भाग-7, पृ०307, भाग-5, पृ०49, भाग-10, पृ०138, भाग 1, पृ० 30, भाग-4, पृ० 355.
2. सी०आई०आई०, जिल्द 4, "राजतरंगिणी", कथासरित्सागर आदि।
3. सा०इ०इ०, पृ० 145. दशरथ शर्मा: चौहान सम्राट पृथ्वीराज तृतीय और उनका युग, पृ० 68.
4. इं०ऐ०, भाग-18, पृ० 273.
5. वही.
6. इं०ऐ०, भाग -8, पृ० 185.

सम्पन्न वर्ग दुर्लभ पुस्तकों की प्रतिलिपि कराकर विद्यालयों या पाठशालाओं को भेंट किया करते थे। गड़ी हुई सम्पत्ति विद्या प्रसार में खर्च की जाती थी।[1] छात्रों को अध्ययन के लिए छात्रवृत्तियां भी प्रदान की जाती थी।[2] शैवकाल में राज्यद्वारा शिक्षा को पूर्ण आर्थिक संरक्षण प्राप्त था। उपाध्याय के सम्मान में दिये गये अग्रहारों का विशद् उल्लेख इस बात के स्पष्ट प्रमाण है।[3]

अलतेकर ने लिखा है कि[4] बौद्ध विश्वविद्यालयों, मन्दिरों और मठों के अन्तर्गत चलने वाली पाठशालाओं तथा अग्रहार विद्यालयों में विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। पर्याप्त अनुदान प्राप्त हो जाने पर इन पाठशालाओं में विद्यार्थियों के आवास, भोजन, वस्त्र, चिकित्सा आदि की व्यवस्था भी निःशुल्क कर दी जाती थी।

प्राचीन भारत में आचार्य के लिए शिक्षण उसका प्रमुख कर्तव्य था। यद्यपि शिक्षा समाप्त कर लेने पर शिष्य गुरु दक्षिणा के रूप में जो कुछ देता था उसे गुरु सहर्ष स्वीकार कर लेता था।[5] याज्ञवल्क्य ने जनक के बहुमूल्य उपहार इसलिए ठुकरा दिये था क्यों कि उन्होंने जनक के पाठ समाप्त नहीं किये थे।[6] यद्यपि जातक ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि सम्पन्न वर्ग के अभिभावकों ने अपने बच्चों की ओर से गुरु दक्षिणा शिक्षा आरम्भ करने से पहले ही चुका दिया करते थे।[7]

---

1. मनु पर कुल्लूक 8.35-39.
2. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ0 75.
3. राजतरंगिणी, 6/89, 1/80, 90, 96, 98, 100, 121, 174, 200, 311, 316, 340, 349, 419, 5/473, 6/336, 7/182, 184, 214, 618, 756, कथासरित्सागर 2/7/41-42. 12/10/5-6. 12/6/200-20/, 5/2/156, 3/6/7.
4. अलतेकर :पूर्वोक्त, पृ0 62.
5. मुकर्जी :ऐन्शियेन्ट इण्डियन एजुकेशन, पृ0, 203.
6. बृहदारण्यक उपनिषद्, 4/1.
7. जातक - 55, 61, 445, 447, 522.

लेकिन विष्णु स्मृति में यह भी कहा गया है कि यदि कोई आचार्य धन के कारण किसी शिष्य को शिक्षा न देता तो उसकी बड़ी निन्दा होती थी और वह ऋत्विक के कार्य के योग्य नहीं समझा जाता था ।[1] स्मृति चन्द्रिका में तो शुल्क की चर्चा मात्र ही निन्द्य कार्य माना गया है।[2] सामाजिक व्यवस्थाकारों ने विद्यार्थियों के प्रवेश के पूर्व सौदेबाजी की निन्दा की है।[3] विद्यादान को सर्वोत्तम दान माना जाता था ।[4] विद्यार्थी का यह हार्दिक प्रयास होता था कि वह अपने आचार्य को गुरुदक्षिणा प्रदान करके घर की ओर प्रस्थान करे ।[5]

आचार्य अध्ययन की समाप्ति के पश्चात् गुरु दक्षिणा का अधिकारी होता था ।[6] अभिभावक इस भावना से अवगत हो जाते थे कि संसार की कोई भी भौतिक वस्तु गुरु के ज्ञान के बदले देकर गुरु ऋण से मुक्त नहीं हुआ जा सकता गृहस्थ जीवन में आने के बाद भी शिष्य गुरु से मिलने गुरुकुल में आते थे । आते समय वे कोई न कोई उपहार गुरु के लिए लाते थे ।[8] सोमेश्वर के अनुसार अपनी शिक्षा पूरी करने के बाद आचार्य को वस्त्र स्वर्ण, भूमि और कभी-कभी गांव दक्षिणा में प्रदान कर दिया करते थे ।[9] कल्हण ने भी गुरु के निमित्त दान वृत्ति की प्रशंसा की है।[10] सौराष्ट्र के शासक गोविन्द राज ने अनेक शिष्यों की देख-भाल करने वाले ब्राह्मण आचार्यों को अनेक भूमिखण्ड दान

---

1. विष्णु स्मृति, 30-39.
2. स्मृ०चं०, पृ० 140.
3. औशनस स्मृति, 4, 23-24.
4. स्मृ०चं०, संस्कार काण्ड, बृहस्पति का वचन, पृ० 145.
5. विष्णु पुराण, 3, 10, 13.
6. मनु पर कुल्लूक 2/245.
7. एक मप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत् ।
   पृथिव्यां नास्ति तद् द्रव्यं यद्दत्वाऽनृणी भवेत् ।।
   ।पराशर स्मृति की टीका में माधव द्वारा उद्धृत लघुहारीत का वचन- 1/2, पृ० 53.
8. आ०ध०सू० 1/1/3, 31-35.
9. मानसोल्लास, 84, पृ० 12.
10. राजतरंगिणी 8. 2395-97.

में दिया था ।[1] ह्वेनसांग ने लिखा है कि विद्यार्थी गुरू द्वारा मांगी गयी दक्षिणा प्रदान करता था ।[2] इस प्रकार उपरोक्त ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गुरूदक्षिणा विवेच्ययुग में शैक्षिक अनुदान का एक प्रमुख सहायक तत्व था ।

प्राचीन भारत में ज्ञानविदो को राजाओं द्वारा सहायता दिये जाने के अनेक उद्धरण प्राप्त होते है।[3] अरण्य में निवास करने वाले तपस्वियों को यथा काल समादर पूर्वक आश्रम में ही भोजन और पात्रों की व्यवस्था करना राजा[4] का कर्तव्य था । राजागण आचार्यों की सेवा के लिए सदैव तत्पर रहते थे ।[5] मनु ने राजा के द्वारा निरन्तर श्रोत्रिय को कुछ दिये जाने अर्थात् उनका सत्कार[6] करने तथा वेदगायन में निपुण और धार्मिक यज्ञ करने वाले ब्राम्हणों को अनेक प्रकार के रत्न और उपहार आदि दिये जाने के विधान का उल्लेख किया है।[7]

विवेच्य युग में धार्मिक उत्सवों में विद्यार्थियों ,अध्यापकों को आमंत्रित किया जाता था और विविध उत्सवों पर विशिष्ट दान दिये जाते थे ।[8] शुभ अवसरों पर राजा द्वारा वेदविद् विद्वान ब्राम्हणों को भूमिदान से विभूषित किया जाता था ।[9] 10वीं-11वीं शताब्दी के

---

1. ए0इं0,2,पृ0 227.
2. वाटर्स,1,पृ0 160.
3. छान्दोग्य उपनिषद,5/11/5 तथा वृहदारण्यक उपनिषद,3/1/1
4. महाभारत,शान्तिपर्व, 165/17-18.
5. वहीं, ,87/26.
6. मनु,8/395.
7. वहीं, 11/4.
8. याज्ञवल्क्य की टीका में अपरार्क द्वारा उद्धृत,1-212.
9. सी0आई0आई0,जिल्द 4,भाग-1 पृ0 28,36,37,43-44,51,55-56. 65-66,75,81,108-9,116,122,131,139,172,165,330,भाग-2, पृ0 396. 401, 408,423,462 .

शिलाहार अपरादित्य प्रथम और उसके पुत्र विक्रमादित्य के ताम्रपत्र अभिलेख में चन्द्रग्रहण के अवसर पर विद्वान रुद्र महोपाध्याय को गांव दान में दिये जाने का उल्लेख है।[1] पश्चिमी चालुक्य राजा आहवमल्ल ।तैल द्वितीय। के शासन काल के प्रथम वर्षधार्मिक समारोह के अवसर पर उसने अपनी ग्राम्य सम्पत्ति को 20 विद्वान ब्राम्हणों के अग्रहार बनाने के लिए प्रदान किया।[2] ।1984 ई० के कच्छुरी शासक विजय सिंह के अभिलेख में राजा द्वारा महाकुमार त्रैलो का वर्णन के वासकर्म संस्कार के अवसर पर विद्याधर शर्मा नामक विद्वान ब्राम्हण को ग्राम दान दिये जाने का उल्लेख है।[3] भीम द्वादशी के दिन उपाध्याय को अंगूठी कटक, सुवर्ण सूत्र, सुवस्त्रादि दान में मिलते थे।[4] विष्णु पुराण में प्रहलाद के शिक्षक को राजपुरोहित भी बताया गया है।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ ज्ञानविदों को आचार्यत्व की दक्षिणा के साथ-साथ पौरोहित्य का दान भी प्राप्त हो जाता था। आधुनिक परिवेश में भी इसके उदाहरण प्राप्त होते है। श्राद्ध के अवसर पर भी विद्वान ब्राम्हणों को दान दिया जाता था। इस अवसर पर मिलने वाले दान का परिमाण अधिक होता था।[6]

----

1. ए०ई० जिल्द 38, भाग-7, पृ० 253-54, 1970.
2. द कार्पस आफ इन्स्क्रिप्सन्स इन दि कन्नड़ डिस्ट्रीक्ट आफ हैदराबाद-स्टेट, पृ० 57, 1958.
3. इण्डियन आर्कियोलाजी 1976-77, ए रिव्यू, पृ० 60-1980.
4. मत्स्य पुराण, 69. 25-47.
5. विष्णु पुराण, 1. 17. 48-54.
6. ए०ई०, भाग-4, पृ० 60.

ऐतिहासिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि हमारे अध्ययन काल में राजागण राज्याभिषेक जैसे शुभ अवसरों पर विद्वान आचार्यों को राज दरबार में आमंत्रित कर उन्हें भूमिदान करते थे या उनकी वृत्ति बांध देते थे इस सन्दर्भ में अनेक राजाओं के नाम उल्लेखनीय है।[1] कन्नौज का राजा यशोवर्मन का आश्रय भवभूति तथा वाक्पति को प्राप्त था। राजशेखर राजा महेन्द्रपाल और महीपाल के आश्रम में रहते थे। कश्मीर के शासक अवन्ति वर्मा के दरबार में आनन्द वर्धन को राजाश्रय प्राप्त था[2]। राजा भोज, मुंज और सिन्धुराज के सम्बन्ध में अनेक कथाएं प्रचलित है। राजा भोज स्वयं एक उत्कृष्ट कोटि का विद्वान एवं लेखक था। बंगाल नृपति लक्ष्मण सेन ने उमापतिदेव, धोई, गोवर्धन और जयदेव आदि को आश्रय दिया था। गुजरात के राजा कुमार पाल का आश्रय हेमचन्द्र को प्राप्त था। नैषध चरित के लेखक श्री हर्ष कन्नौज के राजा विजयचन्द्र तथा जयचन्द्र के आश्रित कवि थे। चालुक्य राजा विक्रमादित्य षष्ठ ने कश्मीर के कवि विल्हण को अपने दरबार में आमंत्रित किया था। मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर इन्हीं के दरबारी कवि थे। शोधकाल के पूर्ववर्ती विद्वान लेखक नृपति हर्ष के दरबार में बाणभट्ट जैसे उद्भट्ट विद्वान को राजाश्रय प्राप्त था।

विवेच्य युग में ज्ञानविदों को भूमिदान एवं ग्राम दान की प्रथा समस्त भारत में प्रचलित थी।[3] राजसत्ता द्वारा वेदविद् ब्राम्हणों, आचार्यों और विद्वानों को राजाश्रय प्राप्त करने और भूमिखण्ड एवं गांवों को दान में देने का परिणाम यह हुआ कि सम्पूर्ण भारत में एक परिस्कृत सांस्कृतिक

---

1. अलतेकर: पूर्वोक्त, पाद टिप्पणी, पृ0 77.
2. वासुदेव उपाध्याय: पूर्वोक्त, पृ0 133-34.
3. इण्डियन आर्कियोलाजी, 1982-83, ए रिव्यु, पृ0122, 1984, वहीं, पृ077, - 1986, वहीं, पृ0 156.

विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ और सामाजिक एकता की प्रक्रिया को आधार प्राप्त हुआ। तत्कालीन शिक्षाविद् संस्कृति के पोषक एवं संरक्षक थे। समाज के विविध कार्यों के संचालन एवं सम्पादन, समाज को शैक्षिक ज्ञान प्रदान करना, उनके धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करना तथा नैतिक निर्देश देना उनके प्रधान कर्म थे। राजाश्रय प्राप्त इन्हीं प्रव्रजित ज्ञानविदों के द्वारा शिक्षा और संस्कृति का चतुर्दिक प्रसार हुआ और तत्कालीन समाज को एक नया पथ प्रदर्शन प्राप्त हुआ। इस सन्दर्भ में अनेक राजवंशों के उद्धरण प्राप्त होते है।

राजपूत शासक[1] वर्ग ने वेदविद् एवं संस्कृत पोषक विद्वान आचार्यों को भूमिदान देकर तथा अपने क्षेत्रों में बसाकर यह कार्य सम्पन्न किया। बंगाल नृपति सामलवर्मन ने पश्चिमी प्रान्तों से कुछ वैदिक ब्राम्हणों को उनकी वेद विद्या एवं धार्मिक कृत्यों के सम्यक ज्ञान के कारण आमंत्रित किया।[2] महाराज आदिसूर के द्वारा पांच विद्वान ब्राम्हणों को कोलाच या कन्नौज से बुलाया जाना प्रमाणित होता है।[3] धर्मपाल के शासन के समय महासामन्ताधिपति[4] नारायणवर्मन द्वारा निर्मित नर नारायण मंदिर का कार्यभार लाट (गुजरात) प्रव्रजित बंगाल के लाट ब्राम्हणों को सौंपा गया था। गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल में व्यक्ति शासकीय अथवा अशासकीय अधिकारी अपनी क्षमता के अनुसार स्वेच्छापूर्वक भूमिदान देते थे। अर्थशास्त्र के अनुसार राजा को धार्मिक एवं विद्वान व्यक्तियों को अपनी एवं रानी की ओर से की गयी सेवा के लिए पुरस्कृत करना चाहिये।[5]

---

1. डी०डी०कौशाम्बी: दि कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन आफ एन्शियेंट इण्डिया -पृ० 171.
2. प्रमोद लाल पाल: दि अर्ली हिस्ट्री आफ बंगाल, पृ० 31.
3. वहीं, पृ० 33-34.
4. वहीं, पृ० 42. आर०बी०पाण्डेय,: हिस्टारिकल एण्ड लिटरेरी इंस्क्रिप्सन, पृ० 228.
5. प्रमोद लाल पाल : पूर्वोक्त, भाग-2, पृ० 42.

चालुक्य राजा जयसिंह द्वितीय के शासन काल के 1016 ई0 के ताम्रपत्र अभिलेख में अग्रहार में शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों के छात्रावास की सुविधाओं हेतु भूमिदान दिये जाने का वर्णन है।[1] प्रमाणों के अनुसार उच्च शिक्षा के लिए विद्यार्थी अग्रहारों मठों एवं मंदिरों में जाते थे और वहीं शिक्षा ग्रहण करते थे। इनमें भी शोध युग में शैक्षणिक प्रतिष्ठानों में सर्वाधिक अग्रहार ही थे।[2] विभिन्न अभिलेखों से प्राप्त सूचनाओं से उनके महत्व का प्रतिपादन होता है।[3] अग्रहारों की शैक्षिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाने में अग्रणी भूमिका थी।[4] 1219 ई0 के होयसल राजा नरसिंह तृतीय के ताम्रपत्र अभिलेख से अग्रहार में वैदिक साहित्य के अध्ययन एवं केशव मंदिर के रख-रखाव हेतु दान दिये जाने का पता चलता है।[5] उच्च शिक्षा संस्था के रूप में राष्ट्रकूटों के शासक काल में कर्नाटक राज्य के धारवाड़ जिले का कादियूर नामक अग्रहार पर्याप्त प्रतिष्ठित था। कल्चुरी चेदि अभिलेखों में प्रयुक्त भूमि दान प्राप्त ब्राह्मण षड्दर्शन, वेद, कला आदि के ज्ञान में निपुण बताये गये है।[6] पृथ्वी देव द्वितीय द्वारा भूमिदान प्राप्त देल्हुक नामक ब्राह्मण को वेदान्त तत्व का ज्ञाता कहा गया है।[7] अलतेकर के अनुसार अग्रहार अपने समय के प्रमुख शिक्षा केन्द्र थे जहां छात्र

---

1. इण्डियन आर्कियोलाजी, 1962-63, एरिव्यू, पृ0 49.
2. ज0वि0रि0सो0, जिल्द 46, भाग 1-4, पृ0 124, 1970.
3. वहीं, पृ0 126.
4. ए कार्पस आफ इन्स्क्रिप्सन्स इन दि कन्नड़ डिस्ट्रिक्स आफ हैदराबाद, -पृ0 24.
5. इंडियन आर्कियोलाजी, 1976-77, एरिव्यू, पृ0 60.
6. सी0आई0आई0, जिल्द 4, भाग -2, पृ0 429.
7. वहीं, पृ0 462.

निःशुल्क विविध शास्त्रों का अध्ययन करते थे।[1] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि अग्रहारों की भूमिदान व्यवस्था तत्कालीन शैक्षिक अर्थव्यवस्था का एक प्रमुख अंग था।

विवेच्य युगीन संगीतज्ञों एवं कलाकारों को भी राजसत्ता द्वारा आर्थिक अनुदान प्राप्त होता था। बद्दुव नगर के चालुक्य अभिलेख में संगीत एवं कला जैसे विद्याओं के शिक्षण के प्रोत्साहन का उल्लेख है।[2]

दसवीं शताब्दी के नन्चानगुड़ु अभिलेख से भी अहिक्षेत्र से विद्वान ब्राह्मणों के समूह का दक्षिणी क्षेत्र में आना प्रमाणित होता है।[3] भारत के विभिन्न क्षेत्रों से विद्वान ब्राह्मणों के मैसूर आकर भूमिदान प्राप्त कर बसने के स्पष्ट प्रमाण मिलते है।[4] विक्रमादित्य षष्ठ के नीलगुंड ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि राजा ने 1087 ई० में विद्वान ब्राह्मणों को तमिल देश से आमंत्रित कर निरुगुंड में बसाया जो बाद में अग्रहार में परिवर्तित हो गया।[5] 1039 ई० के शिलाहार नागार्जुन के थाना पत्र के अनुसार राजा द्वारा यजुर्वेद शाखा माधव पंडित को भूमिदान दिये जाने का विवरण प्राप्त होता है।[6] 1145 ई० के विजय सिंह के रेवा अभिलेख[7] के रचयिता जो काशी के निवासी थे, का रेवा नामक स्थान को प्रवृजित होने का उल्लेख मिलता है।

---

1. अलतेकर: एजूकेशन इन एन्शियेन्ट इण्डिया, पृ० 294.
2. इण्डियन आर्कियालाजी 1981-82, ए रिव्यू, पृ० 79.
3. ई०हि०रि०, भाग -1, पृ० 29, 1974 जिल्द-1.
4. ई०हि०रि०, भाग-1, जिल्द 1, पृ० 29, 1974.
5. वही,
6. वही, पृ० 30.
7. वही, भाग-1-2, जिल्द-5, पृ० 67.

पाल शासक धर्मपाल के आठवीं-नवीं शताब्दी के नालन्दा ताम्रपत्र के अनुसार राजा द्वारा एक बौद्ध भिक्षु को गांवदान में देने का प्रमाण प्राप्त होता है।[1] चन्देल राजाओं द्वारा विद्वान ब्राम्हणों को संरक्षण देने के कार्य को विस्तारित करने और साथ ही कालिन्जर क्षेत्र में ब्राम्हणों के प्रव्रजित होने का उल्लेख प्राप्त होता है।[2] 892ई0 के विजयादित्य के अभिलेख में पोरेगु गांव के मीमांसा पारंगत एवं वेद विद् ब्राम्हण दान ग्रहीताओं को दो गांव के राजकीय अनुदान का उल्लेख है।[3] बारहवीं शताब्दी के मुकन्ना कदम्ब[4] के अभिलेख से ज्ञात होता है कि दक्षिण क्षेत्र में विद्वान ब्राम्हणों के अभाव में उत्तर भारत के अदिक्षेत्र से विद्वान ब्राम्हणों को दक्षिण में शिमोगा नगर के किनारे गुंड में अग्रहार देकर बसाया था। विद्वान ब्राम्हणों के निवास के कारण ये स्थान उच्च शिक्षा के केन्द्र बन जाते थे। अग्रहार गांव में ब्राम्हण संस्कृत के विभिन्न शास्त्रों का निःशुल्क अध्यापन करते थे।[5] बहुत से अनुदान ग्राही वैदिक अध्ययन की विभिन्न शाखाओं में विशिष्टता प्राप्त थे।[6] ऐसा प्रतीत होता है कि तद्युगीन भूमिदान व्यवस्था के अन्तर्गत पवित्र वैदिक विचारधारा को प्रोत्साहित किया जाता था।

हमारे अध्ययन कालीन लेखकों से भी प्रव्रजित विद्वानों को अग्रहारों में बसाये जाने और उनके भूमिदान के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। कथासरित्सागर

---

1. डी0वी0सहाय: दि इन्स्क्रिप्सन्स आफ बिहार, पृ0 68.
2. वासुदेव उपाध्याय: पूर्वोक्त, पृ0 41.
3. जरनल आफ दि एपिग्रेफिकल सोसाइटी आफ इंडिया, पृ0 91.
4. इं0हि0रि0, जिल्द 1, भाग-1, पृ0 29, 1974.
5. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ0 107-8.
6. डा0वी0पी0सिन्हा: दि काम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री आफ बिहार, पृ0 361.

से ज्ञात होता है कि गंगातट पर वसुवर्ण नामक का प्रधानाचार्य शास्त्रज्ञ गोविन्द[1]दत्त था। इसी प्रकार यमुना तट पर स्थित अग्रहार में वेदज्ञ अग्नि-स्वामी के उपाध्याय पद पर आसीन होने का उल्लेख है।[2] पंजाब में ज्ञान का समादर एशिया की विशेषता रही है।[3] कल्हण की राजतरंगिणी से अग्रहार में विद्वान ब्राह्मणों को भूमिदान देकर बसाए जाने के अनेक प्रमाण प्राप्त होता है।[4] विक्रमांक देव चरित में भी अग्रहारों का वर्णन प्राप्त होता है।[5] वैदिक विद्वानो, भाष्य एवं शास्त्र मैदक्ष ब्राह्मणों को ही सम्मान एवं दान प्राप्त होते थे।[6]

इस प्रकार विवेच्य युगीन साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ग्राम दान या भूमिदान की प्रथा शैक्षिक अर्थव्यवस्था के साथ ही साथ तत्कालीन समाज को सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाने हेतु उस बौद्धिक परम्परा से सम्बद्ध थी जो वैदिक काल से चली आ रही थी। इस व्यवस्था से जहाँ एक ओर शान्ति-व्यवस्था को सम्बल मिला वहीं दूसरी ओर तत्कालीन स्थानीय शिक्षालयों को राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का अवसर प्राप्त हुआ।

============

1. कथासरित्सागर, 1.7.41-42
2. वहीं, 12.10.5-6
3. ए हिस्ट्री आफ इन्डिजिनस एजुकेशन इन दि पंजाब, पृ01 संस्करण 1982.
4. राजतरंगिणी, 1.183, 1.343, 8.2444, 1.340.
5. विक्रमांकदेव चरित, 18.24, पृ0 196.
6. इण्डियन आर्कियोलाजी, 1972-73, ए रिव्यू, पृ0 46.

षष्ठ अध्याय

शैक्षणिक गतिविधि

(क) गुरु - शिष्य सम्बन्ध

(ख) शिक्षण विधि

(ग) अनुशासन

(घ) अनध्याय दिवस अथवा अवकाश

शैक्षणिक गतिविधि

गुरु - शिष्य सम्बन्ध

किसी काल की शिक्षा प्रणाली के परिज्ञान के निमित्त गुरु-शिष्य के आदर्श तथा इनके परस्पर सम्बन्धों का ज्ञान महत्वपूर्ण है।अथर्व वेद में गुरु-शिष्य सम्बन्ध को प्रकाशित करने वाला उद्धरण उल्लेखनीय है, जिसके अनुसार आचार्य उपनयन करते हुए ब्रम्हचारी को गर्भ में धारण करता है।[1] गुरु-शिष्य के लिए सर्वस्व थे - पिता, माता, भ्राता, बन्धु सखा, धन तथा सुख।अतः विद्यार्थी गुरु को अपना सब कुछ अर्पण कर देते थे।[2]

विवेच्य युग में भी गुरु-शिष्य के सम्बन्ध पूर्वकाल की भाँति मधुर एवं घनिष्ठ थे। गुरु का आदर करना शिष्य का परम कर्तव्य था, क्यो कि बिना गुरु के, कला ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती थी।[3] गुरु का भी कर्तव्य था कि वह अपने शिष्य को अन्धकार से प्रकाश की ओर लाये।[4] "ज्ञान रूपी दीपक" एक प्रकार के आवरण से आच्छन्न रहता है गुरु उस आवरण् को हटा देता है तब प्रकाश की किरणें फूट निकलती है।[5] दश कुमार चरित् में गुरु की प्रशंसा की गयी है तथा शिष्य को उसका अनुवर्ती होने का संकेत किया गया है।चन्द्रापीड ऐसा ही कर्तव्य निष्ठ शिष्य था।[6] शिष्य को भी उसके कर्तव्यों का बोध कराया

---

1. आचार्य उपनयमानो ब्रम्हचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
   तंरात्रिस्तिस्त्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ।।
   अथर्व०, 1/1/5.
2. शिवपुराण 51, शिव दीक्षा विधान एवं गुरुमहात्म्य ।
3. प्रबन्धकोष, पृ० 91 ।
4. ब्र०पु० 4, 43 ।
5. याज्ञ०, 1, 212, की टीका में अपरार्क द्वारा उद्धृत.
6. दश कुमार चरितम्, पृ० 21-22.

जाता था कि वह गुरू के समक्ष मनमाने ढंग से न बैठे, अभिवादन किये बिना गुरू से विद्या ग्रहण न करे तथा अध्ययन के समय विरोधी विचार, चंचलता और अन्यमनस्कता न दिखावे ।[1] अपनी बुद्धि गुरू से श्रेष्ठ होने पर भी शिष्य को गुरू का अनादर नहीं करना चाहिए और बिना गुरू की आज्ञा लिए शिष्य को कहीं भी नहीं जाना चाहिए । विवेच्य युग में पिता के सदृश्य ही गुरू की सेवा के निर्देश दिये गये है।[2] शिष्य गुरू सेवा करता हुआ अध्ययन करता था ।[3] गुरू के प्रति उसकी अटूट आस्था थी ।[4] लक्ष्मीधर के अनुसार गुरू को शिष्यों की समस्त आवश्यकताओं के प्रति सतर्क रहना चाहिए ।[5]

नीतिवाक्यामृतम् में उद्धृत है कि गुरूजब कुपित हो तब उत्तर न देना और सेवा करना ही उस क्रोध की शान्ति के लिए औषधि है।[6] शारीरिक दण्ड का भी विधान था परन्तु किंचित ही उसे अभ्यास में लाया जाता था।[7] अलतेकर के अनुसार गुरू शिष्यों को दण्ड भी देते थे।[8] इस प्रकार निष्कर्ष रूपेण यह कहा जा सकता है कि विद्यार्थी के कल्याणार्थ ही गुरूओं द्वारा दाण्डिक व्यवहार किया जाता होगा ।

---

1. नीतिवाक्यामृतम्, पृ0 65.
2. वही, पृ0 66.
3. वाचस्पति द्विवेदी : कथासरित्सागर एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0 177.
4. वहीं.
5. कृत्य0ब्रम्ह0, पृ0 240, आपस्तम्ब, 18, 24, 28 को उद्धृत .
6. नीतिवाक्यामृतम्, पृ0 64-65.
7. ब्रजेन्द्रनाथ शर्मा: सोशल एण्ड कल्चरल हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया, पृ047.
8. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ0 46-47.

शंख स्मृति के अनुसार गुरू का अभिवादन कर गुरू आज्ञा से ही अध्ययन शुरू करना चाहिए ।[1] सूर्योदय के समय आचार्य के समीप जाकर दाहिने हाथ से दाहिना तथा बायें हाथ से बाया पैर दबाते हुए अभिवादन करना चाहिए।[2] अभिभावन का प्रत्युत्तर न देने वाले गुरू को उसी प्रकार प्रणाम नहीं करना चाहिए जैसे शूद्र को ।[3] विष्णु पुराण के अनुसार दोनो संध्याओ के समय गुरू के समीप जाकर उनका अभिवादन करना चाहिए ।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि विवेच्ययुग में शिष्यो को अनुशासित करने के नियमों के साथ-साथ गुरू की योग्यता को भी उतना ही महत्त्व दिया जाता था ।योग्य गुरू ही सम्मा-नीय था और विद्यार्थी उनके प्रति सादर अभिवादन करने के लिए नैतिक रूप से बाध्य था ।

इत्सिंग लिखता है कि शिष्य गुरू के पास रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में जाता है,उसके शरीर की मालिश करता है,वस्त्र आदि सम्भाल कर रखता है,कभी-कभी गुरू के आवास में झाड़-लगाता है, फिर जल छानकर पीने के लिए देता है।और वैसा ही आचरण अपने बड़ो के सामने भी प्रदर्शित करता है।[5] गुरू भी शिष्य के रोग ग्रस्त हो जाने पर सेवा करता है उसे औषधि देता है और उसके साथ पितृवत व्यवहार करता है।[6] लक्ष्मीधर

---

1. शंखस्मृति,पृ0 375,3.4. ।
2. कृत्य0ब्रम्ह0,पृ0 188,189 ।
3. वहीं,पृ0 186,
4. वहीं,पृ0 185.
5. वृत्तान्त,पृ0 117-20
6. वृत्तान्त,पृ0 105-106,हर्ष चरित,सर्ग 2

के अनुसार शिष्य को यह अधिकार था कि यदि वह गुरू में कोई त्रुटि देखे तो एकान्त में उसे सतर्क कर दे।[1] किसी भी गुरू के लिये यह उचित नहीं था कि वह किसी विद्यार्थी को अपेक्षित ज्ञान से वंचित रखता बल्कि वह शिष्य को अनेकानेक विज्ञान की शिक्षा देता था।[2]

बौद्ध विहारों और ब्राम्हण गुरू कुलों के छात्रों का अपने आचार्य की सेवा करना कर्तव्य माना गया था।[3] मुकर्जी के अनुसार बौद्ध शिक्षा प्रणाली में भी गुरू शिष्य के मध्य सम्बन्धों का वहीं स्वरूप देखने को मिलता है जो गुरूकुलों में था। उचित रूपसे विचार किये जाने पर बौद्ध शिक्षा प्राचीन हिन्दू या ब्राम्हणीय शिक्षा प्रणाली का ही रूप प्रतीत होती है।[4] जैन प्रमाणों के अनुसार भी शिष्य अपने गुरू का सम्मान करता था। शिष्य आचार्य के निकट, सम्मुख तथा पीछे, आसन ग्रहण नहीं कर सकता था। आसन पर बैठकर वह आचार्य से प्रश्न नहीं पूछ सकता था। गुरू के सामने वह हाथ जोड़कर प्रश्न पूछ सकता था।[5]

इस प्रकार सम्बद्ध स्रोतों से यह परिलक्षित होता है कि गुरू और शिष्य के बीच उसी प्रकार आत्मीय सम्बन्ध होते थे, जैसे पिता और पुत्र के बीच। गुरू और शिष्य परस्पर एक दूसरे के प्रति अपने दायित्वों से से जुड़े होते थे। यदि शिष्य के लिए अनेक अनुशासन और नैतिक कर्तव्य निर्धारित किये गये थे, तो दूसरी ओर गुरू के लिए भी अनेक आदेशों को प्रतिष्ठित किया गया था।

---

1. लक्ष्मीधर: कृत्य०ब्रम्ह०, प्रस्तावना, पृ० 75.
2. कृत्य०ब्रम्ह०, 199-201, 210-228, 240-243.
3. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ० 46.
4. आर०के०मुकर्जी: पूर्वोक्त, पृ० 374
5. उत्तराध्ययन, 1. 13. 12. 41. 18. 22।

शिक्षण विधि

शिक्षा, शिक्षण का ही परिणाम है। शिक्षण वह क्रिया है जिसके द्वारा बालक को विद्योपार्जन के साथ-साथ, आदर्श जीवन के लिए व्यावहारिक प्रशिक्षण दिया जा सके। विवेच्य युग में शिक्षण का माध्यम मौखिक एवं लिखित दोनों ही रूपों में प्रचलित था।

मौखिक शिक्षण विधि भारतीय शिक्षा जगत की जननी है। आचार्यों के मुख से जो ज्ञानपूर्ण वाणी सम्प्रेषित होती थी उसे विद्यार्थी एकाग्रमन से श्रवण एवं मनन करके उसे धारण करते थे। मौखिक शिक्षा विधि में विद्यार्थी के अन्दर धारण शक्ति का होना अति आवश्यक था। इत्सिंग लिखता है कि प्रतिदिन प्रातः विद्यार्थी दैनिक क्रिया निष्पन्न करने के पश्चात् आचार्य के समक्ष अपने अध्ययन किये हुए विषय को सुनाता है और कुछ नया ज्ञान प्राप्त करता है।[1]

प्रायः शिक्षण-कार्य मौखिक। अतः कभी-कभी छात्रों के स्मरण शक्ति कमजोर होने पर पाठ को दोहराया जाता था।[2] वेदों का ज्ञान स्मरण शक्ति पर ही आधारित था। इसकी शिक्षा मौखिक ही दी जाती थी।[3] इसीलिए वेदों के मौखिक ज्ञान का प्रचलन बहुत बाद (लगभग 12वीं सदी) तक बना रहा।[4] अल्बेरूनी लिखता है कि लेखन कला के आविष्कार के बाद भी वेदों के मौखिक शिक्षा को ही प्रधानता दी गयी थी।[5]

---

1. ताकाकुसु प्रकाशन, बुद्धिष्ट प्रैक्टिसेज इन इण्डिया, पृ० 116-17.
2. ब्रजेन्द्र नाथ शर्मा: पूर्वोक्त, पृ० 47 पर उद्धृत बृहत्कथाकोष (हरिसेनकृत) 76, 61.
3. जय शंकर मिश्र: ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० 170 पर उद्धृत दक्ष 2.34 - मिताक्षरा द्वारा उद्धृत या०स्मृ०, 3.110 और अपरार्क, पृ० 126.
4. कृत्य०, दान कांड, पृ० 207-213
5. सचाऊ, अल्बेरूनीज इण्डिया, भाग-1, पृ० 125.

वेदाध्ययन के लिए मनु,शंकर,याज्ञवल्क्य,अपरार्क आदि ने पांच बातें बताया है।इन पांच बातों में शिक्षण की अनेक विधियों का समावेश हो जाता है।ये हैं।1।वेद को कण्ठस्थ करना ।2।उसके अर्थ पर विचार करना ।3।बार-बार दुहराकर सदा नवीन बनाये रखना ।4।जप करना अथवा मन ही मन प्रार्थना के रूप में दुहराना ।5। दूसरे को पढ़ाना ।इसी प्रकार वाचस्पति मिश्र[2]ने शिक्षा प्रदान करने की छःसीढ़ियां बतायी है ।1।शब्द ।2।श्रवण ।3।अध्ययन ।4। ऊहा ।5।सुश्रुषा ।6। धारणा । तद्युगीन समाज में ऐसी धारणा थी कि कुछ काल तक आचार्य के चरणो में बैठकर विधिवत अध्ययन करने से ही बुद्धि परिपक्व हो सकती है।[3] परमज्ञान के लिए ब्रम्ह-मुहूर्त में स्वाध्याय सबसे श्रेष्ठ विधि माना जाता था ।[4] लेकिन वैदिक मंत्रो को तोते की तरह मात्र रट लेना निन्द्य माना जाता था ।[5] स्पष्ट है कि समकालीन समाज विद्यार्थी से सारगर्भित ज्ञान की आशा रखता था।

आचार्य कठिन अंशो की व्याख्या प्रस्तुत करते तथा किसी विद्यार्थी के किसी तथ्य के कण्ठस्थ न करने पर पाठ्य सामग्री को बार-बार दोहराते थे ।ह्वेनसांग लिखता है कि आचार्य अपने शिष्य को अर्थ सहित अनुवाद बता देते थे,सूक्ष्म अंशो को विस्तार पूर्वक समझाते थे,शिष्यों को क्रियाशील बनाने की प्रेरणा देते थे,और कुशलता पूर्वक उनका विकास करते थे,कुशाग्र बुद्धि वाले विद्यार्थियो को उपदेश देते थे और मन्द बुद्धि वाले विद्यार्थियो को कुशाग्र

---

1. मनु 12/102,शंकर,पृ0 6,याज्ञवल्क्य स्मृति 1/51,अपरार्क पृ0 74,मनु0 -3, 19 ।

2. सुश्रुषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणंतथा ।
   ऊहापोहार्थ विज्ञानं तत्व ज्ञानंचधीगुणा ।।
   नीतिसार,पृ0 234.

3. सुभाषितावली,पृ0 16.

4. स्मृति चंद्रिका,संस्कार काण्ड,पृ0 138.

5. नानुसारकता बुद्धि व्यवहार क्रमात्मवेत ।
   अनुसारकता या तुन सा सर्वत्र गामिनी ।।
   शुक्रनीतिसार,3,261.

बनाते थे।[1] बौद्ध शिक्षा के अन्तर्गत तर्क की अधिक प्रधानता थी, इससे बौद्धिक विकास में सहायता मिली।[2] ज्ञान की खोज में विद्यार्थी कठिन परिश्रम करते थे। तद्युगीन शिक्षा विधि में विद्यार्थी को केवल सिद्धान्त का ही नहीं व्यवहार का भी ज्ञान हो जाता था।[3] शिष्य के व्यवहार पर गुरू ध्यान रखता था। भारतीय शिक्षा जगत में इस बात पर बल दिया गया है कि मात्र अध्ययन कर लेना ही पर्याप्त नहीं, अपितु उसे व्यवहार में लाया जायं।[4]

फाह्यान के विवरण के आधार पर मुकर्जी ने 5 - लिखा है कि विद्यार्थियों को आचार्य के शब्द सुनने, समझने और सोचने पड़ते थे। यह पद्धति उपनिषदों में वर्णित श्रवण, मनन, निदिध्यासन के अनुरूप थी। फाह्यान ने देखा कि विद्यार्थी एक अध्यापक से दूसरे के पास मौखिक शिक्षण द्वारा संक्रान्त होते रहते थे। ह्वेनसांग के कथनानुसार [6] जब प्रतिभाशाली, विद्यार्थी पढ़ने में उद्यत नहीं होते थे, उन्हे आचार्य हठ पूर्वक तब-तक पढ़ाते थे, जब तक अध्ययन पूर्ण नहीं हो जाता था। अल्बेरूनी के अनुसार [7] जिस खण्ड को विद्यार्थी समझने में असमर्थ रहता था, आचार्य उसका अर्थ बता देता था, गूढ़तम् अंशों को विस्तारपूर्वक समझाता था, प्रत्येक विधि में गुरू-शिष्य की ग्रहण शक्ति और योग्यता का विचार रखता था। उच्चारण में अशुद्धि होने पर उसी समय गुरू शुद्ध कर देता था। स्पष्ट है कि तद्युगीन शिक्षण विधि में

---

1. वार्ट्स, ह्वेनसांग, भाग-1, पृ0 160.
2. आर0के0मुकर्जी: पूर्वोक्त, पृ0 452.
3. वार्ट्स: ह्वेनसांग, भाग-1, पृ0 160.
4. पंचतंत्र: पृ0 166-67.
5. प्राचीन भारत, पृ0 114.
6. वार्ट्स: ह्वेनसांग, भाग-1, पृ0 160.
7. सचाऊ : अल्बेरूनीज इण्डिया, भाग-1, पृ0 160.

आचार्य शिष्य में वैचारिक सद्मार्ग का ज्ञान देना अपना नैतिक कर्तव्य समझता था।

ऋग्वेद [1] में उल्लेख है कि जिसमें मानसिक चिन्तन एवं ध्यान के फलस्वरूप ज्ञान या प्रकाश की पूर्णता मिलती है, और इसे प्राप्त कर लेने पर शिष्य एवं प्रवक्ता आचार्य बनने के योग्य होता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार की सम्वत्सर तक चुप-चाप पड़े हुए मण्डूक पर्जन्य मेघों के आने पर बोलने लगते है। विवेच्ययुग में भी शिष्य प्रणाली द्वारा शिक्षण कार्य के उदाहरण प्राप्त होते है। बौद्ध ग्रन्थो के अनुशीलन से पता चलता है कि आचार्य की अनुपस्थिति में अनुभव प्राप्त विद्यार्थी, नवागन्तुक छात्रों को पढ़ाते थे।[2] कुरु का राजकुमार वाराणसी के कुमार को अध्ययन कराता था।[3]

विवेच्य युग में वाद-विवाद, तर्क वितर्क की विधि प्रचलित थी।[4] योग्य छात्रो के चुनाव के लिए मौखिक वाद-विवाद प्रतियोगितायें भी होती थी तथा नवागन्तुक छात्रों को अपनी योग्यता का परिचय कठिन शास्त्रार्थ के द्वारा देना होता था।[5] परीक्षा के पश्चात् प्रतिभा सम्पन्न छात्रों को पुरस्कार दिये जाने का उल्लेख भी मिलता है।[6] इससे विद्यार्थियो में वक्तृत्व-शक्ति का विकास तथा बुद्धि में प्रकाश आता था।[7] उक्ति व्यक्ति प्रकरण [8]

----

1. ऋग्वेद, 1/103.

2. सुखविहार जातक, नं0, 10.

3. सुसीम जातक, नं0, 537.

4. साउथ इण्डिया एनुअल रिपोर्ट, 1918, पृ0 160-62.

5. ह्वेनसांग की भारत यात्रा, ठाकुर प्रसाद शर्मा, पृ0 319.

6. वाटर्स, पृ0 162.

7. वाटर्स: ह्वेनसांग, पृ0 162.

8. उक्ति-व्यक्ति प्रकरण, पृ0 77.

से ज्ञात होता है कि काशी में पुनरावृत्ति की पद्धति से ही शिक्षा दी जाती थी। कथा विधि द्वारा भी शिक्षण कार्य निष्पन्न होता था। यह विधि विशेषकर राजकुमारों को शिक्षित करने के लिए अपनायी जाती थी। इसका समर्थन हितोपदेश और पंचतंत्र से भी होता है।

इत्सिंग ने राज दरबारों में विद्वत गोष्ठियों द्वारा विद्वता तथा बुद्धि परीक्षा का उल्लेख किया है।[1] जिसमें विजेताओं को पुरस्कार भी दिये जाते थे।[2] इत्सिंग के विवरण में नालन्दा और वलभी में होने वाले विद्वत सम्मेलनों का उल्लेख है जिनमें सम्भव और असम्भव के सिद्धान्त पर शास्त्रार्थ होते थे।[3] हर्ष चरित में अनेक विद्वत गोष्ठियों का उल्लेख है जिनमें विभिन्न विषयों पर वाद-विवाद होता था।[4] ऐसी ज्ञान चर्चाओं की गोष्ठियों को बाण ने विद्या गोष्ठी कहा है।[5] वीर गोष्ठी में वीरता और शौर्य से सम्बन्धित रचनाएं एवं चर्चाएं हुआ करती थी।[6] प्रमाण गोष्ठी में सभी विषयों की प्रामाणिकता पर विचार किया जाता था।[7] अल्बेरूनी[8] ने भी विभिन्न विद्वत गोष्ठियों का उल्लेख किया है। इन विद्वत गोष्ठियों में अनेक बुद्धिमान और गुणी लोग सम्मिलित होते थे।[9] विद्या, दम शील, बुद्धि और आयु में मिलते-जुलते लोग वहां समान बातचीत के द्वारा एक जगह आसन जमाते वहीं

---

1. इत्सिंग : पृ० 177.
2. वहीं, पृ० 178.
3. वहीं, पृ० 177.
4. हर्षचरित, सर्ग 1, -समानविद्या विश्शील बुद्धि वयसामनुरूपेरा सार्धरैक प्रासन-बन्धी गोष्ठी।
5. हर्षचरित, सर्ग-1
6. वही, सर्ग-1
7. वही, सर्ग-3.
8. डा० जयशंकर प्रसाद मिश्र : पृ० 16-17.
9. हर्षचरित, सर्ग-1, महाहीलापयम्भीर गुण बहुगोष्ठी भोपतिष्ठ मानः।

गोष्ठी है।[1] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि ये विद्वत गोष्ठियां तद्युगीन समाज में ज्ञान प्रसार का प्रमुख माध्यम रही होंगी ।

विवेच्य युग में लिखित शिक्षण विधि अपनी उन्नत अवस्था में थी । बौद्ध ग्रन्थ ललित विस्तर से ज्ञात होता है कि आचार्य कक्षा के बड़े पट्ट - पर कोई अक्षर लिखता, बालक उस अक्षर का नाम पुकारते और अपने पट्ट पर या भूमि पर वैसी ही आकृति बनाते थे।[2] पेशावर संग्रहालय में बुद्ध की एक मूर्ति है जिसमें बुद्ध को लिखते हुए दिखाया गया है।[3] दशरथ शर्मा का मत है कि आलोच्यकाल में खड़िया से रचना को तख्ती पर लिखने और फिर उसे पढ़कर सुनाने की प्रथा थी ।[4] अल्बेरूनी लिखता है कि बच्चों के लिए विद्यालय में कालीतख्ती प्रयोग में लाते है और उस पर लम्बाई की ओर से न कि चौड़ाई की ओर से बाएं से दाएं सफेद वस्तु से लिखते है।[5] मजूमदार के अनुसार जन साधारण वर्ग के बालक जमीन पर या उंगुलियों से ही लिखने का अभ्यास करते थे ।[6] बंगाल में भी बालक भूमि पर ही बालू बिछाकर उंगली से या किसी पतली लकड़ी से लिखने का अभ्यास करते थे ।[7] अक्षरों को भूमि पर लिखने की प्रथा कालिदास के समय से ही जनप्रिय हो चुकी थी।[8] पृथ्वीराज रासो में धनी वर्ग के बालकों का पट्टी पर सुन्दर लिपि लिखने का उल्लेख है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि, कुलीन वर्ग के बालक लेखन कार्य की प्रारम्भिक अवस्था में तख्ती का और सामान्य वर्ग के बालक जमीन का प्रयोग करते रहे होंगे ।

---

1. वासुदेव शरण अग्रवाल: हर्ष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ012.
2. ललित विस्तर, अध्याय- 10.
3. आर्केलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट्स, 1903, पृ0247-7.
4. दशरथ शर्मा: चौहान सम्राट पृथ्वीराज तृतीय और उनका युग, पृ070.
5. अल्बेरूनीज इण्डिया, भाग-1, पृ0 182.
6. मजूमदार, दि वाकाटक गुप्ता एज, पृ0 369.
7. टी0सी0दास गुप्ता: सम ऐसपैक्ट्स आफ बंगाली सोसाइटी, पृ0168.
8. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, 18, 46, "न्यस्ताक्षरामक्षरभूमिकायां ।

वर्णमाला के अक्षरों को लिखने के लिए खड़िया और मिट्टी का प्रयोग पद्म-पुराण में बताया गया है। भूमि पर खड़िया से लिखने का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[1]

संगठित शिक्षा संस्थाओं का जन्म होने के पश्चात् उच्च शिक्षा के लिए मठों या विहारों में प्रवेश के समय बालक को लेखन या गणना का ज्ञान रहता था। अक्षर ज्ञान के स्थान को लिपिशाला और अक्षर सिखाने वाले गुरू को दारकाचार्य " कहते थे।[2] दिव्यावदान में लेखशाला और लिखने के लिए तुला।पेंसिल।आदि का वर्णन है।[3] स्पष्ट है कि तद्युगीन समाज में लिखित शिक्षा विधि का महत्व बढ़ गया था।

अक्षर ज्ञान के पश्चात् बालक बांस की कलम से या पक्षी के परों से भूर्जपत्र पर लिखने का अभ्यास करते थे।[4] तत्पश्चात् ताड़पत्रों पर लिखना सिखाया जाता था।[5] मुसलमानों के आगमन के पश्चात् भी बालक वर्णमाला के अक्षरों का उच्चारण और उसका मिलावट ज्ञान प्राप्त करने के बाद, तख्ती पर छोटे-छोटे वाक्य लिखते थे।[6] कालान्तर में खाका चित्र।चार्ट।[7] द्वारा शिक्षा देने का प्रमाण भी मिलता है, यद्यपि इन प्रमाणों की संख्या अल्प है। वर्तमान कमलमौल मस्जिद ।परमारों के शासन काल में धारा नगरी का एक शिक्षा केन्द्र। की दीवारों पर दो खाका चित्र उत्कीर्ण है, जिनमें व्याकरण

---

1. प्रबन्धकोष, पृ0 8,3.5,
2. ललित विस्तर, अध्याय 10.
3. दिव्यावदान, काउवेल द्वारा सम्पादित, पृ0 532.
4. टी0सी0दास गुप्ता: पूर्वोक्त, पृ0 168.
5. स्टार्क: वर्नाक्युलर एजुकेशन, पृ0 28-48.
6. जफर: एजुकेशन इन मुस्लिम इण्डिया, पृ0 20
7. डा0गीता देवी: उत्तर भारत में शिक्षा व्यवस्था 1600ई0 से 1200ई0।, पृ0 52-53 पर उद्धृत आर्कियोलाजिकल सर्वे, वेस्टर्न सर्किल, 1913, पृ055. अडार्ड रिपोर्ट, 1882, पृ0 220.

के साधारण नियमों का उल्लेख है जिससे हमारे अध्ययन काल में चित्र की सहायता से अध्ययन-अध्यापन का आभास होता है। इसी प्रकार का एक और खाका चित्र उज्जैन के महाकाल मंदिर में भी उत्कीर्ण है।[1] सम्भवतः यह दोनो चित्र विद्यार्थियों के निर्देशन के लिए प्रयुक्त किये जाते थे।[2] इससे यह भी ज्ञात होता है कि तद्‌युगीन समाज में शिक्षण कार्य के लिए मंदिरों का प्रयोग होता था।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि तद्‌युगीन शिक्षा विधि में विद्यार्थी को सहज ज्ञान प्रदान करने के लिए प्रत्येक विधा को अपनाया जाता था, जिससे विद्यार्थी को सीखने एवं समझने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। इन विधियों की निरन्तरता वर्तमान समय में भी मामूली परिवर्तनों के साथ प्रवहमान है।

अनुशासन

अनुशासन शिक्षा प्रणाली का प्रमुख अंग होता है। शिक्षा प्रक्रिया को सुचारू रूप से चलाने के लिए आवश्यक है कि विद्यार्थियों को अनुशासित रखा जायं। परसीनन के[3] अनुसार अनुशासन आचरण के आन्तरिक स्रोतों को स्पर्श करता है। प्राचीन भारत में विद्यार्थी को ब्रम्हचर्य व्रत का पालन कर मनसा, वाचा, कर्मणा, पूर्ण श्रद्धा रखते हुए शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी।[4]

---

1. डा0 गीतादेवी : पूर्वोक्त, पृ0 52-53.
2. वही.
3. शिक्षा समस्या विशेषांक, साहित्य परिचय । तृतीयांक । 1968, पृ0 223.
4. आर0 के0 मुकर्जी: पूर्वोक्त, पृ0 38.

विद्यार्थी जीवन के लिए अनेक नियम निर्धारित किये गये है, जिससे शरीर और आचरण की शुद्धता होती थी ।

विवेच्य युग में भी अनुशासन के सम्बन्ध में विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है। ब्रम्हचारी के लिए कृत्यकल्पतरु में एक विस्तृत अनुशासन-संहिता का, "इन्द्रियनिग्रह" नामक अध्याय में वर्णन है।[1] लक्ष्मीधर[2] ने विस्तार से मनु को उद्धृत करते हुए ब्रम्हचारी के लिए तपोवृद्धि, संयम, नियम, नित्यशीतल जल से स्नान तर्पण, हवन, मद्य, मांस, सुगन्धित, द्रव्य, फूलो की माला, रस, स्त्री, तिक्त भोजन, उबटन, अंजन, जूता, छाता, काम, क्रोध, लोभ, नृत्य, गीत, वाद्य, द्यूत, निरर्थक-वार्ता, निन्दा, असत्य, स्त्रीदर्शन, दूसरो की हानि आदि निषेधात्मक कर्तव्य बताये गये है, साथ ही अकेले न सोने, घड़ा, फूल, गोबर, मिट्टी और कुश आदि आचार्य के उपदेश से संग्रहीत करने और प्रतिदिन भिक्षा मांगने का उल्लेख है। अपरार्क ने हारीत को उद्धृत कर समिधा संग्रह, वेदिका मार्जन, लीपना, पंचभू-संस्कार, हवन, स्तोत्र-पाठ, गुरु सेवा करना और बासी भोजन, हर जगह थूकना, अग्न्योल्लंघन न करना ब्रम्हचारी का कर्तव्य बताया है।[3] निद्रा पर नियन्त्रण और निरालस्यता भी ब्रम्हचारी के लिए आवश्यक थी ।[4] वशिष्ट ने खाट पर शयन, दन्त प्रक्षालन, अंजन, छाता, रात्रि में अन्यत्र निवास आदि को वर्ज्यनीय कहा है।[5] देवल ने चिकित्सा, ज्योतिष, लाक्षणिक विद्या, शिल्प कला, लेखन बढ़ई का काम, द्रव्य, घर, खेत, धन-संग्रह आदि कर्मों का ब्रम्हचारी के लिए निषेध बताया है।[6]

---

1. इन्द्रियनिग्रह" एवं ब्रम्हचारी नियमाः" नामक अध्याय, 14, 15.
2. वही, पृ0 221-229.
3. अपरार्क, 1.50, पृ0 71 पर उद्धृत हारीत.
4. कृत्य0ब्रम्ह0, पृ0 230, वशिष्ट स्मृति, पृ0 538, 1, 28.
5. वशिष्ट स्मृति, 7, 11, पृ0 200; खट्वाशयन दन्त प्रक्षालनांजनाभ्यं जनोंपानच्छत्रवर्जी तिष्ठेदहानिरा त्रिवासीत ।
6. अपरार्क, पृ0 72 पर उद्धृत देवल .

कुल्लूक के अनुसार उपनयन के अनन्तर गुरूकुल में ब्रम्हचारी को शारीरिक एवं आत्मिक दोनो प्रकार से संयमित जीवन व्यतीत करने का निर्देश था ।[1] ब्रम्हचारी के कर्तव्यो में संध्योपासना का भी स्थान था। सन्ध्याकाल वह समय है जब न पूर्ण प्रकाश हो और न पूर्ण अन्धकार। प्रतिदिन संध्या समय कीप्रार्थना संध्योपासना कहलाती है।[2] कुल्लूक के अनुसार जो विद्यार्थी प्रातःऔर सायंकाल संध्योपासना कर्म नहीं करता वह शूद्र के समान माना जाता था ।[3] विवेच्ययुग में अग्नि की पूजा,अग्नि में हवन ब्रम्हचारी का एक महत्वपूर्ण कर्तव्य था ।[4] लक्ष्मीधर का भी ऐसा ही विचार है।[5] कुल्लूक ने यज्ञोपवीत से समावर्तन तक प्रातः एवं सायंकाल अग्नि में हवन का उल्लेख किया है।[6]

अल्बेरूनी लिखता है किविद्यार्थी का कर्तव्य ब्रम्हचर्य का पालन भूमि को अपना बिछौना बनाना,वेद और उसके भाष्य एवं ब्रम्हविद्या तथा धर्मशास्त्र का अध्ययन आरम्भ करना है।यह सब उसको गुरू सिखाता है,जिसकी वह दिन-रात सेवा करता है।[7] कुल्लूक ने ब्रम्हचारियो के लिए मधु,मांस अथवाअन्य उत्तेजनात्मक,खाद्य-पदार्थो को वर्जित बताया है।[8] विज्ञानेश्वर के अनुसार ब्रम्हचारी को आचमन दिन में तीन बार करने का विधानथा ।[9] लक्ष्मीधर का भी विचार है कि ब्रम्हचारी को प्रतिदिन तीन बार प्रणव या ओंकारनाद के साथ

---

1. मनुस्मृति पर कुल्लूक की टीका,2,174-75.
2. कृत्य0,ब्रम्ह0 पृ0 64,भूमिका.
3. मनु पर कुल्लूक,2. 103.
4. स्मृति चंद्रिका,आ0कां0,पृ0 55.
5. कृत्यं0ब्रम्ह0,पृ0 183 पर उद्धृत आपस्तम्ब.
6. मनु पर कुल्लूक,2. 108.
7. अल्बेरूनी का भारतः।अनु0।रजनीकांत शर्मा,पृ0 380.
8. मनु पर कुल्लूक ,2. 117.
9. या0 स्मृ0पर विज्ञानेश्वर :आचाराध्याय,पृ0 9,श्लोक 20.

मंत्रोच्चारण करते हुए आचमन किया जाता था ।[1] विष्णु[2] को उद्धृत करते हुए उन्होंने यह भी लिखा है कि नींद से उठने, खाना खाने, नहाने, पैर धोने, मल-मूत्र त्याग करने, चाण्डाल और म्लेच्छ से सम्भाषण करने के पश्चात् निश्चित तीन आचमनों के अतिरिक्त एक और आचमन किया जाता था ।

कुल्लूक[3] ने ब्रम्हचारियों के लिए एकाग्रमन एवं प्रसन्नमुख होकर मात्र दो समय भोजन करने, अधिक भोजन न करने तथा उच्छिष्ट अन्न किसी को न देने का विधान बताया है। परन्तु कृत्य कल्पतरू में लक्ष्मीधर ने वशिष्ट, आपस्तम्ब, हारीत, यम को उद्धृत कर उल्लेख किया है कि ब्रम्हचारी के लिए भोजन की मात्रा पर प्रतिबन्ध नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि विद्यार्थी के शिक्षा एवं स्वास्थ के लिए संतुलित भोजन पर ध्यान दिया जाता था । इत्सिंग के विवरण के अनुसार [4] भिक्षुओं के भोजन में सादगी थी ।संतुलित भोजन में दूध मक्खन फल-चावल, विशेष महत्वपूर्ण थे जो सुपाच्य एवं स्वास्थ्य वर्धक थे । भिक्षुओं की एक निश्चित दिनचर्या होती थी । भिक्षुओं को समय सूचक यन्त्र अपने पास रखना पड़ता था । भिक्षुशालाओं में भिक्षुओं को वस्त्र एवं भोजन दिये जाते थे । जिसका कारण यह था कि वे जीवन की इन सामान्य आवश्यकताओं के उपकरणों के संचय की चिन्ता में न पड़े और अपने समय का पूर्ण सदुपयोग करें ।

जैन एवं बौद्ध साहित्य के अवलोकन से ज्ञात होता है कि शिष्य की उदण्डता के लिए आचार्य द्वारा शारीरिक दण्ड दिया जाता था। अनुशासन

---

1. कृत्यकल्पतरू, भूमिका, पृ0 62.
2. वहीं, पृ0 135.
3. मनु पर कुल्लूक, 2.53, 54, 56, 57.
4. इत्सिंग, पृ0 63, 40, 43, 44 तथा पृ0 145, 194.

हीनता दर्शाने पर विद्यार्थियों को उनके आचार्य खडड्या।लात।,चेवड़ा -।थप्पड़।,छड़ी तथा अपशब्दों द्वारा दण्डित करते थे।[1]ऐसे भी उदाहरण प्राप्त होते है कि आचार्य शिष्य के अनुशासनहीन होने पर दण्ड देने के स्थान पर दुःखी होकर वन को चले जाते थे।[2]स्पष्ट है कि शिष्य पर इस विधि द्वारा अधिक अनुकूल मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता होगा।इत्सिंग ने तद्युगीन शिक्षालयों में प्राप्त अनुशासन के स्वरूप का विस्तृत उल्लेख किया है।उसके अनुसार[3]अध्ययन एवं अनुशासन आचार्यों के नियन्त्रण में चलता था। किसी भिक्षु के त्रुटिपूर्ण कार्य करने पर एक समिति दण्ड पर भी विचार करती थी तथा दण्ड के विषय में तर्क,वितर्क कर निर्णीत दण्ड भिक्षुको दिया जाता था।आचार्यों के द्वारा अनुशासन स्थापन के निमित्त सामान्य प्रयासो से अलग भिक्षुओं को प्रजातांत्रिक रूप से दण्ड मिलते थे औरसुधार न होने पर उसे संघ छोड़ने का आदेश दिया जाता था।[4] इत्सिंग के अनुसार भिक्षुओं को नियमित रूप से धार्मिक क्रिया-कलापों में रूची लेनी पड़ती थी।उनके दैनिक कार्य शारीरिक श्रम पर आधारित थे।वेश-भूषा साधारण थी। शारीरिक कार्यों के अन्तर्गत शुद्ध वायु की प्राप्ति के लिए प्रातःकाल टहलना भी पड़ता था।[5]छात्रों को प्रातःउठते ही अपने आचार्य के निमित्त आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था करनी पड़ती थी।आचार्य की सेवा करते हुए वरिष्ठ भिक्षुओं के प्रति विनम्र रहना,नियमित रूप से अध्ययन एवं वाद-विवादों में

---

1. उत्तराध्ययन,38,3,65,जातक,2.279.
2. उत्तराध्ययन,27.8.13.16.
3. इत्सिंग,पृ0 63.
4. वहीं,पृ0 63,
5. इत्सिंग,पृ0 114.

तत्पर रहते हुए अधिकतम ज्ञान की उपलब्धि करना एक अनुशासन पूर्ण जीवन के ही परिणाम थे।सहज जीवन में किसी भी रूप में जाने अनजाने होने वाली त्रुटियों के निमित्त भिक्षुओं को या तो पश्चाताप करना पड़ता था अथवा आचार्य द्वारा तीव्र भर्त्सना होती थी।जिसे विद्यार्थी त्रुटि के निदानार्थ प्रयत्न करे।[1]

अनुशासन स्थापन के संदर्भ में नारद का कथन कि पीठ पर ही मारा जा सकता है,या छाती पर कभी नहीं।[2] नियम विरुद्ध जाने पर शिक्षक को वही दण्ड मिलना चाहिए जो चोर को मिलता है।[3] स्पष्ट होता है कि गुरू और शिष्य के तद्युगीन समाज द्वारा मान्यता प्राप्त अपने-अपने आदर्श थे जिसके पालनार्थ कठोर विधान बनाये गये थे।

उपरोक्त उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि हमारे अध्ययन काल में गुरू का जीवन विद्यार्थी के लिए आदर्श का प्रतीक था।गुरू-शिष्य को सभ्य नागरिक बनाने के लिए अनुशासन पर विशेष ध्यान देता था।

अनध्याय दिवस अथवा अवकाश

हमारे अध्ययन काल में शिक्षण संस्थाओं में अनध्याय दिवस अथवा अवकाश की सुसम्बद्ध तालिका प्राप्त होती है।गौतम को उद्धृत-कर याज्ञवल्क्य कहते है कि भूकम्प,उल्कापात,मेघगर्जन,के समय अनध्याय हो। इन्हे आकालिक अनध्याय कहा गया है।[4]गौतम को उद्धृत कर पुनः कहा

---

1. इत्सिंग, पृ0 63,117,120.
2. पी0वी0काणे :धर्मशास्त्र का इतिहास [अनु0],पृ0 247.
3. मनु,8/300.
4. या0स्मृ0 पर विज्ञानेश्वर , आचाराध्याय,पृ0 64,श्लोक 147 पर उद्धृत गौतम,16/22.

गया है कि कुत्ता ,मेंढक ,सर्प,नेवला,बिल्ली आदि अध्ययन के बीच आ जाय तो तीन दिन का उपवास और अनध्याय होना चाहिए ।[1] चतुर्विंशतिमत संग्रह में मनु को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि विद्वान ब्राम्हणों को श्राद्ध आदि का दान लेने तथा एकोदिष्ट यज्ञ के पश्चात् तथा ग्रहण के पश्चात् तीन दिन का अनध्याय करना चाहिए।,साथ ही यह भी उल्लेख है कि एकोदिष्ट यज्ञ के समय सुगन्धित द्रव्य का प्रयोग किया जाता था जब तक उसकी सुगन्ध न चली जाय तब तक अनध्याय करना चाहिए ।[2] हरदत्त के अनुसार[3] एकोदिष्ट यज्ञ के पश्चात् तीन दिन का अनध्याय करना चाहिए ।

अपरार्क ने नृसिंह पुराण के उद्धरण से स्पष्ट किया है कि महानवमी जो शुक्लपक्ष के आश्विन को पड़ती है,भरणी भाद्रपद की पौर्णमासी के उपरान्त,जब चन्द्र भरणी नक्षत्र में रहता है,अक्षय तृतीया बैशाख के शुक्ल पक्ष की तृतीया तथा रथसप्तमीमाघ के शुक्ल पक्ष की सप्तमी को वेदाध्ययन नहीं होता ।हारीत के अनुसार सायं सन्ध्या के समय मेघगर्जन,बिजली चमक और अतिवृष्टि हो तो उस दिन रात्रि भर का अनध्याय तथा प्रातःसंध्या के समय ऐसे उपरोक्त स्थिति हो तो रात दिन दोनों का ही अनध्याय होता है।[4]शिष्य,ऋत्विक गुरु और बन्धु सजातीय के मरने पर उपाकर्म यदि हो भी गया हो तो दिन का अनध्याय करना चाहिए ।अपनी शाखा का अध्ययन करने वाला भी यदि मर जाए तो भी तीन दिन अनध्याय का विधान बताया

---

1. या०स्मृ०पर विज्ञानेश्वर ,आचाराध्याय,पृ० 64,श्लोक 147 पर उद्धृत गौतम - 1/79.
2. चतुर्विंशतिमत संग्रह,पृ० 39 पर उद्धृत मनु.
3. वहीं,पृ० 39 पर उद्धृत हरदत्त.
4. चतुर्विंशतिमत संग्रह,पृ० 34 विज्ञानेश्वर या०स्मृ० पर आ०अ०,श्लोक 146 - तथा श्लोक 147 पर उद्धृत हारीत

गया है।[1] हरदत्त के अनुसार श्राद्ध में भोजन करने व कराने वाले दोनो ही उस दिन अनध्याय रखे।[2]

बौधायन स्मृति के अनुसार दान लेने या श्राद्ध भोजन करने पर एक दिन का अनध्याय होता है।[3] गौतम को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि बिजली चमकने के समय, अत्यधिक वृष्टि के समय या मेघगर्जन के समय तात्कालिक अनध्याय करना चाहिए।[4] विज्ञानेश्वर के अनुसार तैंतीस अनध्याय तात्कालिक है। ये जब दिखलाई पड़े तभी अनाध्याय होगा।[5] कुल्लूक कहते है कि बिजली चमकते, मेघगरजते हुए पानी बरस रहा हो, आकाश में उत्पात सूचक ध्वनि हो, भूकम्प हो, हवनाग्नि प्रज्वलित करते समय अनध्याय होगा। नगर में चौरादि के उपद्रव होने पर, आग लगने पर, आकाश, पृथ्वी या अन्तरीक्ष पर कोई अद्भुत उत्पात होने पर उस समय से अगले दिन तक का अनध्याय होगा। शैय्यादि पर लेटकर, पैर फैलाकर, घुटनो को मोड़कर, मांस और सूतक (जन्म या मृत्यु) के अन्न को खाकर भी अनध्याय का विधान बताया गया है। वेदाध्ययन करते समय गुरु तथा शिष्य के बीच में गाय, मेढक, बिल्ली, सर्प, नेवला और चूहा आ जाने पर एक दिन-रात का अनध्याय होता है।[6]

प्रतिपदा को मनु तथा याज्ञवल्क्य दोनो ने अनध्याय का दिन माना है। रामायण में भी ऐसा ही उल्लेख है।[7] पूर्णिमा, अमावस्या, चतुर्दशी, अष्टमी को अनध्याय का विधान विज्ञानेश्वर ने बताया है।[8] चन्द्रग्रहण-सूर्य ग्रहण होने पर

---

1. विज्ञानेश्वर, याज्ञ0पर, आचाराध्याय पृ0 64, श्लोक 144.- चतुर्विंशतिमत संग्रह, पृ0 38.
2. चतुर्विंशतिमत संग्रह, पृ0 38 पर उद्धृत हरदत्त,
3. मनु स्मृ0, बौधायन स्मृति, एकादश अध्याय, पृ0 442, श्लोक 27.
4. चतुर्विंशतिमत संग्रह, पृ0 38.
5. याज्ञ0 पर विज्ञानेश्वर, पृ0 67, श्लोक 151.
6. मनु पर कुल्लूक, 4.103, 104, 105, 112, 118, 121, 127 आदि.
7. रामायण, सुन्दरकाण्ड, 59/32.
8. याज्ञ0पर विज्ञानेश्वर, आचार अध्याय, पृ0 65, श्लोक 146.

तथा ऋतुप्रारम्भ।प्रतिपदा। के दिन भी एक दिन का अनध्याय होता है।[1] गुरू के आदेश के समय,जल्दी-जल्दी चलते या दौड़ते हुए,वाद्य-वादन काल में अनध्याय का विधान बताया गया है।[2]ऊँट,गधा,खच्चर या घोड़े इत्यादि की सवारी के समय भी अनाध्याय का विधान बताया गया है।[3]पुरीष, नित्यकर्म मूत्र आदि के समय भी अनाध्याय का उल्लेख है।[4] उपाकर्म एवं उत्सर्जन के बाद तीन रात्रि तक अनाध्याय का विधान कहा गया है।[5] शरीर में तेल लगाकर,स्नान के समय,शरीर में अतिकम्पन के समय,श्राद्ध पंक्ति में बैठकर भोजन के समय अनाध्याय का उल्लेख है।[6]पक्षाविक की त्रयोदशी को,चातुर्मास्य की द्वितीया तिथि को,चतुर्दशी को जब दिन में ही अमावस्या लग जायं तो अनाध्याय का विधान बताया गया है।[7]विवाह उपनयन आदि शुभ अवसरों पर तथा सपिण्ड,सगोत्र,आचार्य या ऋत्विज के आने पर अनध्याय का विधान बताया गया है।[8]उत्तर रामचरित में बाल्मीकि आश्रम में विद्यार्थियों द्वारा अपने राजअतिथि राम-लक्ष्मण एवं सीता के साथ अवकाश का आनन्द लेने का उल्लेख है।[9]

याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका में अपरार्क ने [10] उल्लेख किया है कि दैव प्रकोप होने पर ,उलूक,गदर्भ,श्रृगाल,श्वान जैसे जीवों के बोलने पर शिक्षण कार्य स्थगित कर दिया जाता था ।लोगों का विश्वास था कि ऐसे क्षण में वेदों के अध्ययन से अपवित्रता हो जाती है,जिससे भगवान रूष्ट हो

---

1. याज्ञ०पर विज्ञानेश्वर,आचार अध्याय,पृ०65,श्लोक 146.
2. चतुर्विंशतिमत संग्रह,पृ0 35 पर उद्धृत मनु.
3. वही.
4. वही, पर उद्धृत गौतम,
5. वहीं.पृ0 36 पर उद्धृत मनु.
6. वही.पृ0 41.
7. वहीं.पृ0 41 पर उद्धृत निर्णयामृत में भीष्म का श्लोक.
8. वहीं.पृ0 41.
9. उत्तररामचरित,अंक 4बेलवकर-अंग्रेजी अनुवाद-पृ0 60।
10. अपरार्क,याज्ञ0 1. 142. 151.

जाते है। अपवित्र स्थान पर बिजली चमकने पर ,भोजन करके भीगे हाथ से, जल में,जोरो की हवा चलने पर,आंधी आने पर ,अर्द्धरात्रि में,दोनो संध्याओं,में शिष्ट लोगो के आने पर,दुर्गन्धित स्थान पर रथादि सवारी पर बैठकर मरूभूमि में तथासूतक लगने पर अनध्याय का विधान बताया गया है।[1] कलह विवाद के समय,धारदार हथियार से चोट लगने से रूधिर बहने पर भी अनध्याय का उल्लेख है।[2] गाड़ी की आवाज होने पर एवं अपवित्र वस्तु पास में हो,वीणा,भेरी,मृदंग आदि बजता हो तो अनध्याय होगा ।[3]

उपर्युक्त उद्धरणो से स्पष्ट होता है कि विवेच्य युग में अनध्याय दिवस अथवा अवकाश तिथिवार ।निर्धारित अवकाश। एवं अनिश्चित दोनो प्रकार का होता था।अनिश्चित अनध्याय दिवस अथवा अवकाश के अन्तर्गत प्राकृतिक आपदओ,पशु-पंक्षियो के द्वारा व्यवधान और प्रमुख सामाजिक, दायित्वो के निर्वहन ।अनिश्चित किन्तु सामयिक। के दिन सम्मिलित थे। सम्भवतः इसके पीछे शैक्षणिक एवं सामाजिक व्यवस्था की मूल भावना निहित थी ।इसीलिए धर्म शास्त्रकारो ने शिक्षा जगत के लिए अननध्याय दिवसअथवा अवकाश विशेष की व्यवस्था की होगी तथा उसे प्रभावी करने के लिए धर्म का सहारा लिया होगा।कुर्म पुराण में उल्लेख है कि पर्व के दिन अध्ययन स्थगित हो जाता है।[4]कुल्लूक के अनुसार[5] अमावस्या में अध्ययन से गुरू का नाश,चतुर्दशी में अध्ययन से शिष्य का नाश तथा अष्टमी और पूर्णिमा में अध्ययन से वेदशास्त्र ज्ञान का नाश होता है।अतः इस तिथि में अनाध्याय

1.या0पर विज्ञानेश्वर,पृ0 66-67,श्लोक 149-151.

2.चतुर्विंशतिमत संग्रह,पृ0 40 पर उद्धृत मनु.

3.या0 पर विज्ञानेश्वर,पृ0 66,श्लोक 148.

4.कुर्मपुराण,14/82,83 उत्तरार्ध.

5.मनु पर कुल्लूक, 4.114.

होना चाहिए। बौधायन स्मृति से इस मत कीपुष्टि होती है।[1] पी0वी-काणे के अनुसार ऐसा विश्वास किया जाता था कि यदि कोई व्यक्ति अनध्याय के दिनों में वेदाध्ययन करता है तो उसकी आयु कम हो जाती है, उसकी सन्तानों, पशुओं, बुद्धि एवं ज्ञान की हानि होती है।[2]

=================

1. स्मृतिनाम समुच्चय: बौधायन स्मृति, पृ0 442, अध्याय 11. श्लोक 48.
2. पी0वी0काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास (अनु0), पृ0 261.

सप्तम अध्याय

स्त्रियों की भागीदारी

शिक्षा और शिक्षा के संगठन में स्त्रियों की भागीदारी

किसी भी देश की शिक्षा के इतिहास के परिज्ञान हेतु स्त्री शिक्षा का सांगोपांग अध्ययन आवश्यक होता है। विश्व की अन्य सभ्यताओं का इतिहास उलटने पर हम देखते है कि प्राचीन काल में स्त्रियो की सामाजिक स्थिति बहुत सन्तोष जनक नहीं थी, परन्तु इसके विपरीत प्राचीन भारतीय समाज में अति - प्राचीन काल से ही स्त्रियो को समुचित स्थान प्राप्त था। उन्हे शिक्षा, विवाह, सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार प्राप्त थे। और इस प्रकार तद्युगीन समाज में स्त्रियो की संतोष जनक स्थिति पाई जाती है। अनेक गुणों से युक्त होने के कारण उनका चित्रण आदर्श के प्रतीक रूप में भी मिलता है। पुरुषों की भांति वह भी ब्रम्हचर्य जीवन व्यतीत कर सकती थी, एवम् उच्च शिक्षा ग्रहण कर सकती थी। इस प्रकार ज्ञान और आदर की दृष्टि से वह पुरुषों के समकक्ष मानी जाती थी। प्रारम्भिक काल में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते है जिससे ज्ञात होता है कि वे एक निष्ठ जीवन व्यतीत करते हुये विद्योपार्जन में लगी रहती थी और "ब्रम्हवादिनी" की संज्ञा प्राप्त करती थी।

क्रमश: हम यह देखते है कि हमारे अध्ययन काल में (700ई0 से 1200ई0) राजनैतिक परिवर्तनों के साथ-साथ सामाजिक मापदण्ड में भी परिवर्तन हुआ। सम्पूर्ण वैदिक कर्मकाण्ड जटील होने लगा। वर्ण व्यवस्था में अनेक उपजातियों के योग से उसमें भी जटीलता और रूढ़िवादिता बढ़ने लगी, जिसका दुष्प्रभाव न केवल पुरुष वर्ग के क्रिया-कलापो के दायरे पर पड़ा बल्कि स्त्रियों की गतिशीलता पर भी पड़ा। जैसे -सामान्य रूप से उच्च दार्शनिक शिक्षा एवं वैदिक अध्ययन, यज्ञो में भाग लेने के उल्लेख बहुत कम प्राप्त होते है। दूसरी ओर अन्य बहुत से विषयों (ललित कलाओं आदि की) का उल्लेख मिलता है जिनका स्त्रियो को ज्ञान कराया जाता था। अत: प्रश्न यह उठता है कि पूर्व काल की तुलना में विवेच्यकाल में स्त्रियो की शिक्षा सम्बन्धी स्थिति को अवनति की ओर उन्मुख माना जायँ अथवा नहीं। इस काल के साहित्य एवं अभिलेखिक साक्ष्यो के अनुशीलन से यह देखा जाता है कि सामाजिक दृष्टि कोण में परिवर्तनो के कारण सम्पूर्ण शिक्षा जगत में ही उल्लेखनीय परिवर्तन एवं धर्म जगत में कर्म काण्ड की बहुलता का समावेश

दृष्टिगोचर होता है। इन बदलती हुई परिस्थितियों का प्रभाव मुख्य रूप से स्त्रियों की शिक्षा जगत पर कितना पड़ा। इसी का विवेचन करने का प्रयास इस अध्याय में किया गया है।

पूर्वकाल में बालकों की भांति बालिकाओं के उपनयन का भी उल्लेख मिलता है। "उपनयन गुरु के निकट रहकर वैदिक शिक्षा प्राप्त करने का प्रतीक स्वरूप था।" जैसे-जैसे उपनयन का महत्व कम होता गया उसका प्रथम प्रभाव स्त्रियों की शिक्षा पर पड़ा। अलतेकर महोदय ने यहाँ तक लिखा है कि पांचवीं ई.पू० से स्त्रियों का उपनयन समाप्त सा हो गया था।[1] मनुस्मृति :- लगभग 200ई०पूर्व। में कहा गया है कि स्त्रियों का विवाह ही उनका उपनयन संस्कार है और पति सेवा ही गुरुकुल वास के समान पवित्र है।[2] स्मृतियों के भाष्यकारों ने भी उपनयन संस्कार को स्त्रियों के लिए निषिद्ध बताया[3] और साथ ही उन्हें शूद्रों की भांति वेदोच्चारण और यज्ञादि कर्मों के लिए भी अयोग्य घोषित कर दिया।[4] सोम देव के अनुसार स्त्रियों को शास्त्र की अधिक शिक्षा नहीं देनी चाहिए। स्वभावतः मनोरम उपदेश भी स्त्रियों को उसी प्रकार विनष्ट कर देता है जिस प्रकार तलवार पर पड़ी जल की बूंदें भी उस पर जंग लगाकर उसे नष्ट कर देती है।[5] मनीषियों के इन विचारों से प्रतीत होता है कि बदलते हुये परिवेश में स्त्री-शिक्षा को ही सबसे अधिक आघात पहुँचा। किन्तु पूर्ण रूप से उन्हें शिक्षा सम्बन्धी अधिकारों से च्युत कर

---

1. अलतेकर: पोजिशन आफ वुमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ० 202.
2. मनु: 2.67.
   वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिको मतः।
   पति सेवा गुरुवासो गृहार्थोऽग्नि परिक्रिया ॥
3. आर०एम० दास; वुमेन इन मनु एण्ड कोमेन्टेटर्स, पृ० 72.78. मेधातिथि, कुल्लूक, 2.67. मिताक्षरा, 1.15.
4. अलतेकर; पूर्वोक्त, पृ० 16।.
5. नीतिवाक्यामृतम्, राजरक्षा समुद्देश्य, श्लोक 43.

दिया गया था - ऐसा भी नहीं कहा जा सकता।देवी भागवत पुराण में स्त्रियो के लिए आजीवन कौमार व्रत की चर्चा की गयी है।[1] कथा - सरित्सागर में भी ब्रम्हचारिणी स्त्रियो का उल्लेख है।[2]हारीत ने बालिकाओ के दो प्रकारो का उल्लेख किया है,"ब्रम्हवादिनी,"जो अध्ययनरत हो और "सद्योवधू" जो विवाह के लिए प्रस्तुत हो।उसने ब्रम्हवादिनी के लिए उपनयन,वेदाध्ययन तथा घर में भिक्षाटन का विधान तथा सद्योवधू के लिए विवाह के ठीक पूर्व उपनयन संस्कार निर्दिष्ट किया है।[3] सातवीं शताब्दी में बाण की कादम्बरी में महाश्वेता के शरीर को यज्ञोपवीत धारण करने से पवित्र बताया गया है।[4] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उपनयन।स्त्रियों का।यदा कदा सम्पन्न होता था।सम्भवतः उच्च वर्ग राज्य परिवारो में यह परम्परा अभी बनी हुई थी।

विवेच्य युग में स्त्रियो के सह-शिक्षा के अनेक उल्लेख प्राप्त होत है।ऐतिहासिक साक्ष्यो के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उच्च वर्ग और राजघरानो की बालिकायें विद्यालय या शिक्षको के घर जाती थीऔर बालको के साथ अध्ययन करती थी।बंगाल के राजा गोविन्द चन्द्र ।11वीं सदी। की माता ने किसी विद्यालय में शिक्षा प्राप्त किया था. क्यों कि वह स्वयं कहती है-"जब एक दिन मैं पाठशाला से लौट रही थी।[5]

1- देवी भागवत पुराण,5. 17. 15.

2. कथासरित्सागर,खण्ड 3,पृ0 989 एवं 99।

3.वी0मि0सं0,पृ0 402, द्विविधा:स्त्रियो ब्रम्हवादिन:सद्योवध्वश्च।
"तत्र ब्रम्हवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्व-गृहे च भिक्षा चर्येति।:,स्मृति चंद्रिका,1.24.

4.बाण, कादम्बरी,काउवेल का अंग्रेजी अनुवाद,पृ0 133.

5. टी0सी0दास गुप्ता:पूर्वोक्त,पृ0 188.

पद्म पुराण में उल्लेख है कि राजकुमारी चित्तोत्सव अपने शिक्षक के घर अध्ययन करती थी, जहाँ पिंगल पुरोहित का पुत्र भी पढ़ता था ।[1] भवभूति कृत मालती माधव ।8वीं शताब्दी। नामक नाटक से ज्ञात होता है कि कामन्दकी की शिक्षा -दीक्षा भूरिवसु तथा देवरात के साथ एक ही पाठशाला में हुई थी ।[2] भवभूति की ही रचना उत्तर रामचरित ।8वीं सदी। में भी सह-शिक्षा का उल्लेख मिलता है।[3] जिसमें कहा गया है कि आत्रेयी लव-कुश के साथ वाल्मीकि के आश्रम में शिक्षा ग्रहण करती थी ।बंगाली लोक साहित्य से ज्ञात होता है कि एक राजकुमारी और एक कोतवाल का पुत्र साथ-साथ एक ही विद्यालय में अध्ययन करते थे ।[4] अलतेकर ने भी सह-शिक्षा पद्धति की सीमित सम्भावनाओं का समर्थन किया है।[5] इस प्रकार स्पष्ट है कि आलोच्य-काल में कुछ स्त्रियों को पुरुषों की भाँति उनके साथ शिक्षा ग्रहण करने का सुअवसर प्राप्त था, कितनी स्त्रियों को यह अवसर प्राप्त हुआ, यह बताना तो कठिन है लेकिन इनकी संख्या कम थी ।

हमारे अध्ययन काल में स्त्रियाँ विविध विषयों का अध्ययन करती थी ।यद्यपि उनके लिए कोई निश्चित पाठ्यक्रम निर्धारित नहीं था फिर भी तद्युगीन समाज में स्त्रियों को चौंसठ कलाओं का ज्ञान आवश्यक माना जाता था ।इसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में बताया गया है कि इन कलाओं के ज्ञान से प्रियजनों से वियोग की स्थिति में, विपत्ति में, अपरिचित स्थान में, अपनी

----

1. पद्मपुराण, पर्व 26, श्लोक 5-6

तयोश्चित्तोत्सवापत्यं कन्या गुरु गृहे च सा।राजसित मुल्लेशी-लेखनी वर्णपूरिका।राज्ञः पुरोहितस्यास्य धूमकेशस्य पिंगलाः स्वाहाकु-क्षिसमधीते सुतस्त त्रैवपाठके ।

2. मालती माधव, प्रथम अंक, पृ0 22.

3. उत्तररामचरित, अंक 2.

4. टी0सी0दास गुप्ता: पूर्वोक्त, पृ0 187.

5. अलतेकर: एजूकेशन इन एन्शियेन्ट इण्डिया, पृ0 214-15.

कलाओं द्वारा स्त्रियाँ एक व्यवस्थित दिन चर्या के साथ सुखपूर्वक जीवन यापन कर सकती हैं।[1] आलोच्यकाल में स्त्रियों के साहित्य, काव्य, लेखनकला, अंकगणित, दर्शन, चिकित्साशास्त्र, ज्योतिष, कामशास्त्र, गृहविज्ञान, ललितकला, माल्यग्रन्थनकला, शिल्पकला तथा प्रशासनिक एवं सैनिक शिक्षा आदि विद्याओं में प्रवीण होने के विवरण प्राप्त होते है। इस युग में तन्त्र जैसे विषय भी उनके ज्ञानार्जन में समाहित होने लगे थे। नलचम्पू में दमयन्ती की शिक्षा के अन्तर्गत वीणावादन, द्युतविधान, काव्य और उसकी आलोचना, नृत्य गीत, चित्रकला, वाद्यकला, कामकला, और चिकित्सा का उल्लेख है।[2] ललित विस्तर से पता चलता है कि गोपा नामक राजकन्या अनेक विद्याओं में प्रवीणा थी।[3] पंचाशिका में एक राजकुमारी को साहित्य, अलंकार, नवरस, ज्योतिष, काव्य, नाटक, कामशास्त्र, छन्द शास्त्र तथा प्राकृत और संस्कृत भाषा के शास्त्रों की शिक्षा दिये जाने का उल्लेख है।[4] काव्यमीमांसा से ज्ञात होता है कि अभिजात्य वर्ग में सुसंस्कृत स्त्रियाँ प्राकृत एवं संस्कृत में दक्ष होने के साथ-साथ काव्य, संगीत, नृत्य, वाद्य और चित्रकला में भी प्रवीण होती थी।[5] तद्युगीन स्त्रियाँ वात्स्यायन का कामसूत्र, भरत का नाट्यशास्त्र, चित्रकारी पर विशाखिल तथा संगीत पर दन्तिल की पुस्तकों का अध्ययन कर अपनी प्रतिभा का विस्तार करती थी।[6] ग्यारहवीं शताब्दी में अल्बेरूनी के कथन से स्त्रियों की सामान्य स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। उसके अनुसार

---

1. कामसूत्र, 3/20.
2. नलचम्पू,
3. ललित विस्तर, पृ० 112.
4. चौरपंचाशिका, दक्षिणात्य पाठानुसारेण, श्लोक 5 एवं 38 तथा पूर्व पीठिका, -श्लोक 31.
5. काव्य मीमांसा, पृ० 53.
6. कुट्टनीमतम्, 123-25, एस०सी०बनर्जी, कल्चरल हेरीटेज आफ काश्मीर, पृ०16.

परिवार की व्यवस्था और असाधारण स्थितियों में स्त्रियों का परामर्श बड़ी निष्ठा से लिया जाता था । उन्हें शिक्षा दी जाती थी, एवं शिक्षिता की मर्यादा समाज में स्थापित थी ।[1]

हमारे अध्ययन कालीन साहित्य में ऐसी अनेक स्त्रियों के उदाहरण प्राप्त होते हैं जो प्राकृत एवं संस्कृत पढ़ने लिखने एवं समझने में समर्थ थी ।[2] दसवीं शताब्दी में राजशेखर ने यह विचार व्यक्त किया था कि महिलाएं भी पुरुषों की भाँति कविता में निपुण हो सकती है और उन्होंने कुछ उदाहरण भी दिये है।[3] राजशेखर की पत्नी अवन्ति सुन्दरीउत्कृष्ट कवियित्री एवंटीकाकार दोनों थी ।[4] ललित-विस्तर के अनुसार शिक्षित परिवारों में स्त्रियां कविता एवं शास्त्राध्ययन करती थी ।[5] बाण के अनुसार राजकुमार चन्द्रापीड के मनोरंजन के लिए जो स्त्रियां भेजी जाती थी ।वे कविता लेखन में निपुण थी ।[6] बंगाल का इतिहास पढ़ते समय हमें एक व्यापारी के शिक्षित पत्नी का उल्लेख मिलता है जो दो व्यक्तियों के लेखन शैलीकेअन्तर को बता सकती थी ।[7] श्रृंगार मंजरी साहित्य और काव्य रचना में प्रवीण थी ।[8]

वास्तुशिल्प से भी स्त्रियों के शिक्षा सम्बन्धी कार्यों पर प्रकाश पड़ता है।जैसे - खजुराहो के मंदिरों के कुछ दृश्य भी यह संकेत करते है कि तत्कालीन स्त्रियां शिक्षित थी और वे पढ़ लिख सकती थी । वहां

---

1. केशवचन्द्र मिश्र:चन्देल और उनका राजत्वकाल,पृ० 194.
2. अलतेकर:दि पोजिशन आफ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन,पृ० 355.
3. काव्य मीमांसा,दशम अध्याय,पृ० 138.
4. कर्पूर मंजरी,1.11,अलतेकर,प्रा०भा०शि०पद्धति,पृ० 165-66.
5. अलतेकर:एजुकेशन इन एन्शियेन्ट इंण्डिया,पृ० 235-36.
6. कादम्बरी,काउले।अंग्रेजी अनुवाद।,पृ० 251.
7. पी०सी०दास गुप्ता,पूर्वोक्त,पृ० 189.
8. भोजकृत श्रृंगार मंजरी,पृ० 12

कुछ ऐसे दृश्य देखने को मिलते है जिसमें वे या तो पुस्तक पढ़ रही है या पत्र लिख रही है।[1] राजशेखर एक ताड़ पत्र का उल्लेख करते है जिस पर मृगांकावली ने संस्कृत में चार पंक्तियो की कविता लिखी थी।[2] जिससे यह स्पष्ट होता है कि उसे इस भाषा एवं लेखन कला का ज्ञान था। कथासरित्सागर, में एक स्त्री का उल्लेख है जिसने एक कविता लिखी थी।[3] बिल्हण के विक्रमांकदेव चरित। ग्यारहवीं शताब्दी। में कश्मीर की उन स्त्रियो का उल्लेख है जो धारा प्रवाह संस्कृत और प्राकृत बोलती थी।[4]

परमार शासक भोज ।1010ई0 से 1050ई0। शिक्षित व्यक्तियो का प्रोत्साहक और प्रेमी था। उसके द्वारा पुरस्कृत व्यक्तियो में कुछ बुद्धिमान और शिक्षित स्त्रियाँ भी थी।[5] प्रबन्ध चिन्तामणि से ज्ञात होता है कि कविधनपाल की पुत्री बाल पंण्डिता बुद्धिमान और तीव्र स्मरण शक्ति की थी। ऐसा कहा जाता है कि जब राजा भोज ने पुस्तक तिलकमंजरी को गुस्से में जला दिया था, जिससे कवि दुःखी और हतप्रभ हो गया था। लेकिन उसकी पुत्री ने उसे सान्त्वना दी क्यों कि उसे पुस्तक का प्रथम भाग याद था। उसने उसे तद्रूप पुनः लिखा और द्वितीय भाग को पूरा किया।[6] नैषध चरित के अनुसार दमयन्ती उत्कृष्ट शब्दो में चन्द्रमा की सुन्दरता का वर्णन एक पत्र में लिखती है।[7] विचक्षणा द्वारा स्वरचित कविता का राजा के सम्मुख पढ़ने और उसकी बौद्धिक क्षमता से प्रभावित होकर राजा द्वारा उसे "कविरत्न" की उपाधि

---

1. पु0अग्रवाल: खजुराहो स्कल्पचर एण्डदेयर सिग्नीफिकेंस, पृ0 169-70.
2. विद्धसाल-भंजिका: आर0के0त्रिपाठी। हिन्दी अनुवाद।, भाग-2, पृ049, भाग-3, पृ0 85.
3. ओसन आफ स्टोरी, वाल्यूम-9, पृ0 72.
4. विक्रमांकदेव चरित, 18.6.
5. जे0एम0शास्त्री: ।सम्पादक। भोज परमार, पृ0 224, 293, 335, 422, प्रबन्ध-चिन्तामणि, पृ0 40-41.
6. प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ0 60.
7. नैषध चरितम्- 6, श्लोक 63.

से विभूषित करने का भी उल्लेख मिलता है।[1] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि तद्युगीन समाज में विदुषी स्त्रियों को विद्वान पुरुषों की भांति शैक्षिक उपाधियां प्राप्त होती थी।

विवेच्य युग में कतिपय संस्कृत संग्रहों में अनेक कवयित्रियों की उच्च-कोटि की रचनाएं उपलब्ध होती है।जल्हण के सूक्ति-मुक्तावली में विदर्भ की कवियित्री विजयांका को सरस्वती का रूप कहा गया है।जिसकी कीर्ति की समता केवल कालिदास कर सकते थे।[2] विजयांका की पहचान विज्जा, विद्या,या विद्याका नामक कवियित्रियों में की गयी है जिसकी कविताएं अनेक ग्रन्थों में उद्धृत है।[3] इसकी पहचान आठवीं सदी के शासक चालुक्य राजा - चन्द्रादित्य की पत्नी विजय भट्टारिका से भी की गयी है।प्रबन्धकोष में एक राजकुमारी का उल्लेख है जिसने पांच सौ श्लोकों की रचना की थी।[4] भोजप्रबन्ध[5] और प्रबन्ध-चिन्तामणि सीता नामक कवियित्री का उल्लेख करते है जिसने तीन वेद,रघुवंश,कामसूत्र एवं चाणक्य नीति का अध्ययन किया था।[6] कवियित्री शीला भट्टारिका की एक कविता मम्मट के काव्य प्रकाश में उद्धृत है।[7] राजशेखर ने इस कवियित्री की सरल एवं प्रवाह पूर्ण शैली की प्रशंसा की है तथा उसे वाणभट्ट के समतुल्य माना है।[8] लड्डदेव शीला भट्टारिका को सम्मान देने का उल्लेख प्राप्त होता है।[9] कश्मीर नृपति जयापीड का मंत्री

---

1. कर्पूरमंजरी,भाग-1 पृ0 231,भाग-2,पृ0 248,
2. सरस्वतीव कर्णाटी विजयांका जयत्यसौ ।
   या वैदर्भगिरां वास: कालिदासादनंतरम् ।।
3. सूक्ति मुक्तावली,श्लोक 96,कवीन्द्र वाचन समुच्चय,श्लोक 51,500,502.
4. प्रबन्धकोष, 14,पृ0 64
5. के0एल0शास्त्री:पूर्वोक्त,पृ0 392,श्लोक 289.
6. प्रबन्ध चिन्तामणि,अध्याय-2,पृ0 63.
7. काव्यप्रकाश,अलंकार उल्लास-1,श्लोक 1.
8. सूक्ति-मुक्तावली,श्लोक 91.
9. सर्गंधरा पद्धति,श्लोक 163.

वामन (लगभग आठवीं शताब्दी ई0) के काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में फल्गु हस्तिनी नामक कवियित्री की कविताओं का उल्लेख है।[1] प्रबन्ध चिन्तामणि से ज्ञात होता है कि भोज की समकालीन दासियाँ भी काव्य रचना में इतनी कुशल होती थी कि किसी भी पद्यांश की पूर्ति शीघ्र ही कर देती थी।[2] इससे तद्युगीन समाज में स्त्रियों की तीक्ष्ण बुद्धि एवं काव्य रचना के प्रति अनुराग का पता चलता है।

होयसल राजा बल्लाल प्रथम (11वीं शताब्दी) के राज दरबार में कन्नड़ कवियित्री कान्ती और प्रसिद्ध कवि नाग चन्द्र के बीच वाद-विवाद का प्रमाण प्राप्त होता है। सोलहवीं सदी के एक कवि बाहुवली ने कान्ती से प्रभावित होकर उसे अभिनव वाग्देवी" की उपाधि दिया।[3] जिससे स्पष्ट होता है कि कान्ती एक प्रतिभा सम्पन्न कवियित्री थी। सरस्वती कण्ठ भरण में कवियित्री तिनक्का की एक कविता है। इसके नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि यह दक्षिण भारतीय कवियित्री रही होगी। लाट की कवियित्री प्रभुदेवी के बारे में मात्र इतनी जानकारी मिलती है कि उसकी मृत्यु के पश्चात् प्रभुदेवी की कविताएं पाठकों को आनन्द प्रदान करती थी।[4] जल्हणदेव ने मरूला और मोरिका नामक कवियित्रियों की विद्वता की प्रशंसा किया है।[5] भवकादेवी की तीन कविताएं कवीन्द्र वाचन समुच्चय में उद्धृत है।[6] उसने सरल और सुबोध शब्दों का प्रयोग किया है।[7] उसे भवदेवी अथवा भवकादेवी कहा जाता है।[8] कवीन्द्र -

---

1. कवीन्द्रवाचन समुच्चय सूत्र 38.
2. मेरुतुंग, प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ0 66.
3. क्वार्टरली जरनल आफ माइथिक सोसाइटी, वाल्यूम 14, पृ0 11, जुलाई 1954.
4. सूक्ति-मुक्तावली, श्लोक 94.
5. सार्ङ्गधर पद्धति, श्लोक 163.
6. कवीन्द्रवाचन-समुच्चय, श्लोक 177, 356, 359,
7. जे0बी0चौधरी, संस्कृतपोयटेस, भाग-1, पृथ्वीराज विजय.
8. वहीं, पृ0 4.

वाचन समुच्चय में एक अन्य कवियित्री विकटनितम्बा की दो कविताएं उल्लिखित है।[1] हाल की गाथा सप्तशती में सात कवियित्रियों रेवा, रोहा, माधवी, अनुलक्ष्मी, वद्धवही, शशिप्रभा एवं पाहई का उल्लेख प्राप्त होता है।[2] लेकिन, इनके बारे में नाम के अतिरिक्त कुछ ज्ञात नहीं है। राजशेखर ने सुभद्रानामक एक अन्य कवियित्री का उल्लेख किया है।[3] इस प्रकार विवेच्य काल में सम्पूर्ण भारत से कवियित्रियों के प्रकाण्ड पंडिता एवं लेखिका होने के उदाहरण प्राप्त होते है। कतिपय कवियित्रियों के राजाश्रय प्राप्त होने के भी उदाहरण प्राप्त होते है। जिससे तत्कालीन समाज में विदुषी स्त्रियों के प्रति सम्मान एवं आदरभाव का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है।

विवेच्य काल में कतिपय स्त्रियों ने आयुर्वेद में पाण्डित्य पूर्ण और प्रमाणिक रचनाएं की थी। आठवीं शताब्दी में आयुर्वेद के जिन ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद हुआ था उनमें रूसा नामक महिला लेखिका की चिकित्सा विज्ञान पर लिखी एक पुस्तक भी थी।[4] वह चिकित्सा विज्ञान में पारंगत रही होगी।

समाज में स्त्रियां व्याकरण का भी अध्ययन करती थी। आसाम के राजा नरनारायण की रानी रत्नमाला के कहने पर एक महिला विद्यावगिशा ने व्याकरण की एक पुस्तक लिखी जिसका नाम 'रत्नमाला था।[5] कथासरित्सागर में एक रानी का उल्लेख है जिसे संस्कृत व्याकरण में प्रवीण कहा गया है।[6]

---

1. कवीन्द्र वाचन- समुच्चय, ।सम्पादित थामस।, श्लोक 296, 372.
2. गाथा-सप्तशती, श्लोक 1/87, 90, 91, 93
3. सूक्ति -मुक्तावली, श्लोक 95.
4. नदवी: अरब और भारत के सम्बन्ध, पृ0 122.
5. एन0एन0बसु: सोसल हिस्ट्री आफ कामरूप, वाल्युम-2, पृ0 63.
6. ओसन आफ स्टोरी, वाल्युम-1, पृ0 69.

संदेश-रासक की नायिका में दोहा, गाथा, चतुष्पदी, वस्तु, अदिला, दोमिल्या, कुला का, मालिनी, मदिला, खड्‌ड़क, यानकोटक, कुडिल्लका, द्विपदी, रमनिया, स्कन्धका आदि में लिखने की अद्‌भुत बौद्धिक क्षमता थी।[1] इस प्रकार के छन्दो की रचना व्याकरण ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। स्त्रियो के छन्द, दोहा, एवं कविता ज्ञान के आधार पर भी यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे व्याकरण विद्या में भी निपुण होती होगी।

हमारे अध्ययन काल में स्त्रियां गणित विद्या के ज्ञान से अनभिज्ञ नहीं थी। बारहवीं सदी में भास्कराचार्य ने अपनी पुत्री लीलावती को गणित का अध्ययन कराने के लिए "लीलावती" नामक गणित की एक पुस्तक लिखी।[2] अन्य स्त्रियो को गणित का ज्ञान अवश्य रहा होगा।

स्त्रियो द्वारा ज्योतिष विद्या में रूचि लेने के प्रमाण मिलते है। एक जैन साहित्य में बन्धुला नामक स्त्री भविष्यवक्ता का उल्लेख है।[3] रानी - विलासवती एक स्त्री भविष्य वक्ता से पुत्र के बारे में पूछती है।[4] इससे स्पष्ट होता है कि आलोच्यकाल की स्त्रियां ज्योतिष के महत्व को समझती थी।

हमारे अध्ययन काल में ऐसी स्त्रियो के उल्लेख प्राप्त होते है जिन्हे दार्शनिक विषयों का ज्ञान था। वे वेदान्त मीमांसा, योग दर्शन, तथा बौद्ध एवं जैन दर्शन का अध्ययन करती थी। उनमें से कुछ तो अपने विषय क्षेत्र की पंडिता थी। शंकराचार्य और मण्डन मिश्र के बीच हुए शास्त्रार्थ की निर्णायिका मण्डन मिश्र की विदुषी पत्नी ही थी।[5] इससे स्पष्ट होता है कि वह मीमांसा,

1. संदेशरासक: अब्दुल रहमान, पृ0 74, 88, 91-92, 99, 104, 107, 110, 113, 118, 125, 136, 147, 181, 190, 202-3-207, 212, 220.
2. आर0सी0मजूमदार: ग्रेट वुमेन आफ इण्डिया, कलकत्ता 1920, पृ0295.
3. उपमिति, खण्ड-6, 880.
4. कादम्बरी काले, पृ0 91.
5. शंकर दिग्विजय, 8-51.

विधाय भार्या विदुषीं सदस्यां ।
विधीयतां वादकथा सुधीन्द्र ।।
इत्थं सरस्वत्यक तारता को ।
तद्धर्मपत्न्यास्तम भार्गिताम् ।।

वेदान्त तथा साहित्य की ज्ञाता थी और तद्युगीन समाज में ज्ञानी स्त्रियाँ भी पुरुषों की भाँति समस्याओं के समाधान करने में अपनी बुद्धिमत्ता व्यक्त कर सकती थी। बांगला साहित्य के एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि राजकुमार सुन्दर और राजकुमारी विद्या के बीच, वेदान्त, वैशेषिक तथा अन्य कई दार्शनिक सिद्धान्तों पर शास्त्रार्थ हुआ था।[1] उत्तर रामचरित की आत्रेयी भी उच्च कोटि की विद्वान थी जिसने वाल्मीकि एवं अगस्त ऋषि से वेदान्त दर्शन की शिक्षा ग्रहण की थी।[2]

चाहमान राजा चन्दन {10वीं सदी} की रानी रुद्रानी को उसके योग ज्ञान के लिए आत्म प्रभा कहा जाता था।[3] कादम्बरी भी योगदर्शन की ज्ञाता थी।[4] दसवीं सदी के एक जैन ग्रन्थ में कहा गया है कि भुवनमाला अपने योग शक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्ति के शरीर में प्रवेश कर सकती थी।[5] यद्यपि यह व्याख्या अतिरंजित हो सकती है फिर भी उसके योगदर्शन के पंडिता होने से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

बौद्धधर्म स्त्रियों को भिक्षुणी बनने की अनुमति देता था, और उन्हें एक विशेष प्रकार का वस्त्र धारण करना पड़ता था।[6] ये भिक्षुणियां बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों की पूर्ण ज्ञान रखती थी लेकिन इनके अल्पउदाहरण ही प्राप्त होते है। मालती माधव में भवभूति ने बौद्ध भिक्षुणी कामन्दकी का उल्लेख किया है जिसके आश्रम में दर्शन एवं साहित्य का शिक्षा ग्रहण करने के लिए देश के सभी भागों से

---

1. टी०सी०दास गुप्ता: पूर्वोक्त, पृ० 201.
2. उत्तर रामचरित, अंक-2.
3. पृथ्वीराज विजय, 6-38-39.
4. कादम्बरी, काले {अनुवाद}, पृ० 176.
5. उपमिति, 3, पृ० 257.
6. ताकाकुसु, पृ० 78.

विद्या प्रेमी आते थे।[1] हर्ष चरित में राज श्री को शील की शिक्षा दिये जाने का उल्लेख है।[2]राजा हर्षवर्धन राज्यश्री को बौद्धदर्शन के सिद्धान्तो को समझाने के लिए दिवाकर मित्र से आग्रह करते है।[3] लेकिन विवेच्ययुग में बौद्ध धर्म का पतन हो रहा था इसलिए बौद्ध धर्म एवं उससे सम्बन्धित भिक्षुणियां स्त्री शिक्षा के लिए बहुत कुछ करने में सफल नहीं रही ।

जैन पुराण [4]विभिन्न जैन भिक्षुणियो का उल्लेख करता है जिन्हें जैन-दर्शन के सिद्धान्तो का ज्ञान था ।जैन विद्वान लेखक हरिभद्रसूरि के शिष्य सिद्धर्षिसूरि ने गुणसाध्वी नामक एक जैन विदुषी महिला का वर्णन सरस्वती के अवतार के रूप में किया है।[5] एक अन्य जैन विदुषी महिला याकिनी-महाचारा का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[6] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि बौद्ध भिक्षुणियों की भांति जैन भिक्षुणियां भी जैन धर्म की शिक्षाओं के माध्यम से तद्युगीन समाज में अपने धर्म के प्रचार प्रसार में योगदान करती रही होगी ।

राजकुमारियो को प्रशासनिक तथा सैनिक शिक्षा भी दी जाती थी। इनको प्रशासनिक शिक्षा बड़ी होने पर और सैनिक शिक्षा किशोरावस्था में ही दी जाती थी ।[7] जिससे आवश्यकता पड़ने पर वे अपने राज्य का शासन प्रबन्ध कर सके तथा अपने पतियो को राज्य सम्बन्धी कार्यों में उचित परामर्श एवं सहयोग प्रदान कर सके ।उन्हें शस्त्रास्त्र परिचालन,

---

1. मालतीमाधव,1,पृ0 13.
2. हर्ष चरित,उच्छवास 8,पृ0 459.
3. वही.
4. मालती माधव,अंक 1,पृ0 17.
5. उपमितिभव प्रपंच्चा,पृ0 776.श्लोक 1018.
6. प्रबन्धकोश,पृ0 24.
7. अलतेकर: पूर्वोक्त पृ0 167.

अश्वारोहण तथा जल-संतरण की शिक्षा दी जाती थी।

भारतीय इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है जिससे पता चलता है कि हमारे अध्ययन काल की अनेक रानियों, राजकुमारियों एवं विधवा नारियों ने राज्य की व्यवस्था एवं प्रबन्ध में सक्रिय भाग लिया। कश्मीर के इतिहास में सुगन्धा, दीद्दा और जयमति का उल्लेख है, जिन्होंने संरक्षिका के रूप में कश्मीर पर शासन किया था। चालुक्य वंश की अनेक रानियों और महिलाओं ने, जिनमें अक्कादेवी, मैलादेवी, कुंकुम देवी और लक्ष्मी देवी प्रसिद्ध है, ने कुशल शासिका के रूप में कार्य किया था।[1] मारकण्डेय पुराण में उल्लेख है कि रानी मदालसा ने अपने प्रथम तीन पुत्रों को आत्मज्ञान का उपदेश देकर राज्य से विरक्त कर दिया था, परन्तु राजा के आग्रह पर अपने चौथे पुत्र अलंक को राजधर्म एवं गृहस्थ धर्म का उपदेश दिया था।[2] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि ये महिलाएं राजव्यवस्था में बिना प्रशिक्षण के अपने राज्य की देखभाल नहीं कर सकती थी।

ऐसी स्त्रियों के उदाहरण भी प्राप्त होते है जिन्होंने युद्ध भूमि में सेनाओं का नेतृत्व तक किया था। राजतरंगिणी में कश्मीर की अनेक रानियों[3] के युद्ध में भाग लेने के उदाहरण प्राप्त होते है जिसमें शीलूला का नाम विशेष उल्लेखनीय है। गर्ग की पत्नी छुद्दा द्वारा अपने निजी सैनिकों और राजसैनिकों के सहयोग से दुश्मनों को परास्त करने का उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसा प्रतीत

---

1. इं०ऐ०, भाग-9, पृ० 274, भाग-18, पृ० 37, अल्तेकर, दि पोजिशन आफ वीमेन-इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ० 21.

2. मारकण्डेय पुराण, 1.23.23, 1.26.3-6, 1.24.5-6.

3. राजतरंगिणी - 7-905-909-931, 8-9069, 8-1137-9.

होता है कि वह कोई सामन्त सिन्ध की रानी रानीबाई ने युद्ध भूमि में पति दाहिर की मृत्यु के उपरान्त अरब आक्रान्ता मुहम्मद बिन कासिम [712ई0] की विशाल सेना के विरुद्ध अपनी लघुसेना का नेतृत्व किया था और बहादुरी से लड़ती रही लेकिन अपनी पराजय को सन्निकट देखकर वह अन्य स्त्रियों के साथ आग में कूदकर अपनी प्रतिष्ठा बचायी।[1] ग्यारहवीं सदी में कामरूप की रानी मैनामती ने राजा धर्मपाल को परास्त किया था ।[2] बारहवी सदी में मुहम्मद गोरी के अन्हिलवाड़ पर आक्रमण करने के बाद गुजरात की रानी नायिकी देवी ने उसके विरुद्ध युद्ध का नेतृत्व किया और विजयी रही ।[3]

ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुशीलन से विदित होता है कि रानियों और राजकुमारियों के अतिरिक्त साधारण स्त्रियों ने भी युद्ध में भाग लिया था ।जिनसामान्य वर्ग की स्त्रियों के युद्ध में भाग लेने का उल्लेख मिलता है, वे प्रशिक्षण प्राप्त की थी अथवा नहीं, इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। लेकिन जो उदाहरण प्राप्त होते है उससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि उन्हे किसी न किसी प्रकार से प्रशिक्षण प्राप्त रहा होगा ।अलतेकर के अनुसार साधारण क्षत्रिय परिवारों में भी सम्भवतः बालिकाओं को युद्ध कला की शिक्षा दी जाती थी ।आपत्तिकाल में ग्रामीण महिलाएं गांव की रक्षा में युद्ध करती दिखलायी पड़ती है।[4] इस कार्य में महिलाओं द्वारा वीर-गति प्राप्त किये जाने के उल्लेख मिलते है।[5] 860ई0 के एक अभिलेख से ज्ञात

---

1. इलियट: हिस्ट्री आफ इण्डिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, वाल्यूम -1, पृ0 172.
2. एन0एन0बसु: द सोसल हिस्ट्री आफ कामरूप, वाल्यूम-1, पृ0 173.
3. एच0सी0रे: डायनेस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया, वाल्यूम-2, पृ0-1005.
   प्रबन्ध चिन्तामणि [अनुवाद], टॉनी, पृ0183-5.
4. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ0 167.
5. ए0इ0 भाग-7, सियोध, 4-तिथि 1112 ई0.

होता है कि गुर्जर प्रतिहार राजा भोज ने स्त्रियों के सहयोगसे असुरों के उपर विजय प्राप्त किया ।[1] खजुराहो के मंदिरो में भी हथियार बन्द स्त्रियो की तस्वीरे देखने को मिलती है जिनसे उनके योद्धा होने का संकेत प्राप्त होता है।[2] कादम्बरी में एक महिला द्वारपाल का उल्लेख है जिसके बायी ओर एक तलवार लटक रहा है।[3] अनुलेखो में ऐसी ग्रामीण स्त्रियो को आभूषण दान के द्वारा सम्मान प्रदर्शन के उल्लेख मिलते है।[4] बाण की कादम्बरी से ज्ञात होता है कि स्त्रियां जल-संतरण की कला में भी प्रवीण होती थी ।[5]

700-1200ई0 के मध्य तंत्रवाद से प्रभावित वाम मार्गी और सहजीया विचारधारा के अन्तर्गत विभिन्न धर्म सम्प्रदायो से सम्बद्ध शाखाओं ने, स्त्रियों को तंत्रवाद एवं ऐन्द्रजालिक विद्यो की शिक्षा देने तथा ग्रहण करने का अधिकार प्रदान किया ।तंत्रवादियों ने स्त्री को कर्मकाण्ड में सक्षम और अधिकार सम्पन्न स्वीकार किया है।[6] आलोच्यकाल में इन विद्यो का इतना प्रचार था कि सामान्य परिवारो के अतिरिक्त उच्च वर्ग की स्त्रियां भी उनमें रूचि लेने लगी । रानी मैनामती ने गुरू गोरखनाथ से "महाज्ञान"प्राप्त किया था ।यह कहा जाता है कि वह सात दिन तक बिना किसी शारीरिक क्षति के अग्नि में रही।[7] समय मातृका से ज्ञात होता है कि मृगावती नामक वेश्या पहले शाक्तमठ में प्रवेश करती है और भैरव सोम से दीक्षा लेकर शिखानाम धारण करती है।[8] राजतरंगिणी

---

1. आर0बी0पाण्डेय; हिस्टारिकल एण्ड लिटरेयरी इन्सक्रीप्शन्स, पृ0 165.
2. यू0अग्रवाल :पूर्वोक्त, अध्याय 4, पृ0 170-1
3. कादम्बरी, काले, पृ0 8.
4. अलतेकर :पूर्वोक्त, पृ0 168.
5. वासुदेव शरण अग्रवाल: कादम्बरी -एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0 179.
6. महानिर्वाण तंत्र, 14. 187, तंत्रलोक, पृ0 295. मातृकाभेद तंत्र, 3. 36.
7. टी0सी0दास गुप्ता: पूर्वोक्त, पृ0 154.
8. समय-मातृका, 2. 43. 58.

में कल्हड़ रानी दीद्दा के शासन काल की घटनाओं का उल्लेख करते समय लिखते है कि वह अन्य गुणों के अलावा ऐन्द्रजालिक विद्याओं को भी जानती थी जिसका प्रयोग उसने राजगद्दी प्राप्त करने के लिए किया था ।[1] राजतरंगिणी में ही एक अन्य स्त्री को तंत्रविद्या का ज्ञाता कहा गया है।[2]

कर्पूरमंजरी में भैरवानन्द का कथन है कि विद्या, क्रिया और तान्त्रिक शिक्षा में दीक्षित स्त्रियाँ ही हमारी पत्नियाँ है।[3] जिनेश्वर सूरि एक चरिका का उल्लेख करते है जो तंत्र-मंत्र एवं ऐन्द्र जालिक विद्याओं की ज्ञाता थी ।[4] मालती माधवम् में कपाल-कुण्डला और उसके गुरु अघोर घंट द्वारा मालती को बलि देने का उल्लेख है।[5] प्रबन्ध चिन्तामणि में दहलादेश की रानी देमती का उल्लेख है जिसके बारे में कहा गया है कि उसने ऐन्द्र जालिक कलाओं द्वारा अपने पुत्र को इसलिए देर से पैदा किया, कि वह बच्चा विश्व का सबसे शक्तिशाली शासक बन सके ।[6] कथासरित्सागर में कालरात्रि नामक स्त्री को भैरव की पुजारिन बताया गया है जो सिद्धिप्राप्त करने की दीक्षा भी देती थी ।[7] दश कुमार चरित में बौद्ध भिक्षुणी द्वारा कुटनी कार्य करने का उल्लेख है।[8] इस प्रकार स्पष्ट है कि तंत्र-मंत्र एवं ऐन्द्र जालिक कलाओं का ज्ञान तत्कालिन स्त्री शिक्षा का एक प्रमुख अध्ययन विषय बन चुका था ।

----

1. राजतरंगिणी- 6.311-13.
2. वही. 1.333-5.
3. कर्पूरमंजरी, पृ0 47, चतुर्थ अंक, पृ0 229.
4. कथाकोश प्रकरण, जयदेव कथानकम्, पृ0 107.
5. मालती माधवम्, अंक-5, पृ0 237.
6. प्रबन्ध चिन्तामणि, अनुवाद टानी, पृ0 72.
7. कथासरित्सागर, खण्ड-1, पृ0 389.
8. दश कुमार चरित, अंक-6, पृ0 443

विवेच्यकाल में स्त्रियाँ केवल अध्ययन ही नहीं अपितु अध्यापन का कार्य भी करती थी, जिन्हे "आचार्य" कहा जाता था।[1] मालती माधवम्[2] में कामन्दकी को एक शिक्षिका के रूप में उद्धृत किया गया है। कामन्दकी अवलोकिता से कहती है कि सौदामिनी उसकी छात्रा है। सौदामिनी ने भी इस बात की पुष्टि की है।[3] अन्तः-पुर में शिक्षा देने के लिए भी अध्यापिकाएं हुआ करती थी।[4] राजा जयावर्मन सप्तम् की पत्नी की बड़ी बहन केएक बौद्ध विहार में पढ़ाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[5] लेकिन इन अत्यल्प उदाहरणों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि तद्‌युगीन समाज में अध्यापन व्यवसाय के रूप में स्त्रियों में प्रचलित था। क्योंकि इस काल के जैन साहित्य में किसी अध्यापिका का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। कलात्मक विधाओं में भी किसी शिक्षिका का प्रतिनिधित्व नहीं मिलता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि हमारे अध्ययनकाल में अध्यापिकाओं की संख्या बहुत कम रही होगी।

हमारे अध्ययनकाल ।700ई0से ।200ई0। में ललित कलाओं का अध्ययन तद्‌युगीन स्त्रियों के प्रिय शिक्षा विषय थे। नृत्य गीत एवं वाद्यकला विशेषकर सम्भ्रान्त परिवारों में विकसित हुई थी। उच्च वर्ग की स्त्रियाँ धार्मिक पुस्तकों, साहित्य के साथ ही नृत्य, संगीत एवं रंजन कला की शिक्षा प्राप्त करती थी।[6] बाण ने अभिजात्य वर्ग के लिए ललित कलाओं का ज्ञान सांस्कृतिक दृष्टि से आवश्यक माना है।[7] प्रिय दर्शिका से ज्ञात होता है कि नृत्य-गीत और वाद्य स्त्रियों

---

1. अलतेकर: दि पोजिशन आफ वुमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ0 14.
2. मालती माधव, भाग 1, पृ0 30, अनेन मत्प्रियोर्मियोगेन स्मारयति मम्पूर्व-शिष्यां सौदामिनीम्।
3. वहीं, भाग-10, पृ0 464.
4. पृथ्वीराजरासो, 43, 17, यशस्तिलक चम्पू, उच्छवास 7, पृ0338.
5. कम्बुज इन्स्क्रिप्सन्स, पृ0 575.
6. तिलकमंजरी, पृ0 215.
7. कादम्बरी ।अंग्रेजी अनुवाद। काले, पृ0 104-5.

के लिए उपर्युक्त विषय थे ।[1] हर्ष चरित में स्त्रियों द्वारा अलिंग्यक,वेणु,झलरी, तंत्रीपटल,वीणा आदि वाद्यों को बजाने एवं नृत्य करने का उल्लेख है।[2] कथासरित्सागर में भी नृत्य,गीत एवं वाद्य तीनों का एक साथ ही उल्लेख हुआ है।[3] कादम्बरी तथा महाश्वेता ने इसका प्रशिक्षण लिया था ।[4] हर्ष चरित में राज्य श्री को नृत्य,गीतादि कलाओं में प्रवीण बताया गया है।[5] मुख्यत: नगरीय क्षेत्रों में ही स्त्रियां ललित कलाओं में प्रशिक्षित होती थी ।[6] गणिकाएं और देवदासियां भी इन कलाओं में निपुण होती थी ।तत्कालीन समाज में स्त्रियों की ललित कला सम्बन्धी कुशलता के ज्ञान की पुष्टि अन्य ऐतिहासिक स्रोतों से भी होती है। कथासरित्सागर से ज्ञात होता है कि मनोविनोद के लिए स्त्रियां इन कलाओं का अभ्यास करती थी ।[7]

मत्स्य पुराण में विशोक द्वादशी नामक व्रत के विषय में निर्देशित है कि इस अवसर पर नारी को नृत्य और गीत में तत्पर रहना चाहिए।[8] राजशेखर के अनुसार स्त्रियां विभिन्न उत्सवों पर नृत्य और गायन करती थी ।[9] हरिभद्रसूरि की "धूर्ताख्यान" ।नवीं सदी ई०।से पता चलता है कि स्त्रियां नृत्य एवं संगीत में निपुण थी ।[10] महिलाओं द्वारा अपने पतियों के साथ नृत्य और गीत गाने के प्रमाण भी प्राप्त होते हैं।[11] जिससे तद्युगीन समाज में स्त्री पुरुष के मध्य समान रूप से नृत्य एवं गीत के लोकप्रिय होने का संकेत मिलता है ।

---

1. प्रियदर्शिका,पृ० 16.
2. वासुदेव शरण अग्रवाल: हर्ष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन,पृ० 67.
3. कथासरित्सागर,8/1/81.
4. हर्ष चरित,चतुर्थ उच्छवास,पृ० 140,कादम्बरी,पृ० 324.
5. वासुदेव शरण अग्रवाल: हर्ष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 69.
6. ब्रज नारायण शर्मा: पूर्वोक्त,पृ० 291.
7. कथासरित्सागर, 17. 4. 26.
8. मत्स्यपुराण,82/29.
9. विद्धसाल भंजिका, अंक-4,पृ० 109.
10. धूर्ताख्यान,पृ० 38.
11. संदेश रासक,पृ० 68,167.

मालविकाग्निमित्रम् में वृषपर्व नामक असुर की पुत्री शर्मिष्ठा द्वारा नृत्य प्रदर्शन का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] राजशेखर के अनुसार गड़ेरियों की स्त्रियाँ भी नृत्य और संगीत का ज्ञान रखती थी।[2] जिससे स्पष्ट होता है कि सामान्य ग्रामीण स्त्रियों को भी ललित कलाओं की जानकारी थी। कला वह है जिसे मूक भी कर सके।[3] बेलूर ।मैसूर। के मंदिर में तीन महिलाओं की मूर्ति है, उनमें से एक ढोलक बजा रही है और अन्य उसे पकड़े हुई है।[4] खजुराहो के मंदिरों में ऐसे अनेक दृश्य है जिससे यह पता चलता है कि स्त्रियाँ नृत्य के साथ ही बाँसुरी, वीणा तथा एकतारा आदि संगीत वाद्यों का ज्ञान रखती थी।[5] संदेश रासक से ज्ञात होता है कि बसन्त ऋतु में लड़कियाँ अपनी सहेलियों के साथ गाना गाती थी।[6] जिससे आलोच्यकाल में समूहगान का संकेत मिलता है। रत्नावली नाटिका से ज्ञात होता है कि दासियाँ भी नृत्य और संगीत जानती थी।[7] प्रियदर्शिका में रानी की दासी अंगारिका अपनी संगीत विद्या के लिए अतिप्रशंसनीय थी।[8]

राजमहलों में नाट्यशालाओं का उल्लेख प्राप्त होता है, जहाँ स्त्री-पुरुष नृत्य एवं संगीत की शिक्षा ग्रहण करते थे।[9] चालुक्य राजा विक्रमादित्य द्वितीय की मुख्य रानी लोक महादेवी द्वारा नर्तकों और संगीतकारों को प्रोत्साहन देने का प्रमाण मिलता है।[10] ऐसा प्रतीत होता है कि

---

1. मालविकाग्निमित्रम्, टीका, पृ0 9.
2. कर्पूरमंजरी, अंक 1, पृ0 213 .
3. शुक्रनीतिसार, अध्याय-4.
4. ए0गोस्वामी; इण्डियन टेम्पिल स्कल्पचर, प्लेट 114.
5. पृ0अग्रवाल; खजुराहो स्कल्पचर्स एण्ड देयर सिग्नीफिकेन्स, अध्याय-9, पृ0 168-9.
6. संदेश रासक ।अंग्रेजी अनुवाद।, पृ0 92, 202.
7. रत्नावली, अंक 1, पृ0 27.
8. प्रियदर्शिका, अंक 2, पृ0 62.
9. वाचस्पति द्विवेदी, पूर्वोक्त, पृ0 188, पर उद्धृत का0स0श0, 9/1/27।.
10. क्वार्टरली जरनल आफ माइथिक सोसाइटी, वाल्यूम 14, पृ03, पृ0195.

रानी स्वयं नृत्य एवं संगीत में निपुण रही होगी ।राजा देवशक्ति ने राजा कनकवर्ष के द्वारा वैवाहिक सम्बन्ध के लिए भेजे गये दूत को अपनी पुत्री मदन सुन्दरी को नृत्य दिखाया।[1] होयसल राजा विष्णुवर्धन की रानी संताला देवी ।12वीं शताब्दी ई0। को "नृत्य की रत्न और गायन की सरस्वती" कहा गया है।[2]इन उपाधियों से उसके नृत्य और गायन में निपुण होने का पता चलता है।राजकुमारी हंसावती ने अपने पिता के सम्मुख नृत्य-कला का प्रदर्शन किया था ।[3]मदन मंजुका ने भी नृत्य गीतादि की शिक्षा ग्रहण की थी ।[4]मृगावती नृत्य गीतादि कलाओं में निपुण थी ।[5]रत्नावली में वर्णित कौशाम्बी की पुरललनाओं का नृत्य इतना मनोज्ञ एवं आकर्षक था कि पुरुष भी नर्तनार्थ लोलुप हो उठते थे ।[6]आलोच्य काल के साहित्य में अनेक स्थानों पर युवतियां संगीतरत दिखलाई पड़ती है।[7]वासवदत्ता ने वीणा वादन उदयन से सीखा था ।[8]मलय सुन्दरी एक उच्च शिक्षा प्राप्त युवती होने के साथ ही नृत्यकला में भी प्रवीण थी ।[9]विक्रमांकदेव चरित में चन्द्रलेखा को नृत्यगीतादि में दक्ष वर्णित किया गया है।[10]इस प्रकार स्पष्ट होता है कि विवेच्य युग में नृत्य एवं संगीत कला को अभिजात्य वर्ग के बीच पूर्ण प्रतिष्ठा थी

ऐतिहासिक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि तद्युगीन स्त्रियां नृत्य एवं संगीत की भांति चित्रकला का भी ज्ञान रखती थी ।कथा सरित्सागर में

----

1. वाचस्पति द्विवेदी:पूर्वोक्त,पृ0 187पर उद्धृत कथासरित्सागर,9/5/92.
2. क्वार्टरली जरनल आफ माइथिक सोसाइटी,वाल्यूम 14,पृ03,1954.
3. वाचस्पति द्विवेदी:पूर्वोक्त,पृ0 180.
4. वहीं,पृ0 184.
5. वहीं, पृ0 184.
6. रत्नावली,प्रथम अंक
7. आर0सी0दत्त,लेटर हिन्दू सिविलाइजेशन,पृ0 161.
8. प्रियदर्शिका,अंक 1 ,पृ0 63.
9. तिलकमंजरी,पृ0 137.
10. विक्रमांकदेव चरित भाग-2, अध्याय-8,श्लोक 87.

चित्रकार एवं चित्रकला के कई उदाहरण मिलते है। उनमें से कुछ स्त्रियाँ इस कला में इतना पारंगत थी कि वे सजीव तस्वीर बनाती थी।[1] मदन सुन्दी द्वारा अपने प्रिय का चित्र बनाये जाने का उल्लेख है।[2] स्त्रियों द्वारा फलक पर चित्र रचना किये जाने का विवरण प्राप्त होता है।[3] नैषध चरित में कहा गया है कि दमयन्ती और उसकी सहेलियाँ उच्च कोटि की चित्रकार थी।[4] ग्यारहवीं सदी के एक जैन साहित्य में ऐसी राजकुमारियों का उल्लेख है जो किसी भी चित्र विषयक विचारों को बताने में सक्षम थी।[5] रत्नावली में सागरिका द्वारा कामदेव का चित्र तथा उसके सहेली सुसंगता द्वारा रति का चित्र बनाने का विवरण मिला है।[6] तिलकमंजरी[7] और नव सहसांक[8] चरित से भी आलोच्य-कालीन स्त्रियों के चित्रकला विषयक ज्ञान का पता चलता है। हर्ष चरित से ज्ञात होता है कि राज्यश्री के विवाहोत्सव पर स्त्रियों ने घड़े पर चित्रकारी की थी।[9] खजुराहो स्थापत्य कला सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू का चित्रण करते है। खजुराहो मंदिर के अनेक दृश्यों में स्त्रियों को विभिन्न मुद्राओं में चित्रण कार्य करते हुए दिखाया गया है। एक दृश्य में तो एक स्त्री का कूँची और चित्र-कारी पट्ट के साथ वर्णन किया प्राप्त हुआ है।[10] एक अन्य दृश्य में एक स्त्री दीवार पर पेड़ की शाखाओं को बना रही है।[11] कुट्टनीमतम् में मंजरी को वत्सराज की तस्वीर बनाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[12] इस प्रकार यह

---

1. औशन आफ स्टोरी, वाल्युम 8, पृ0 139.
2. डा0 वाचस्पति द्विवेदी, पूर्वोक्त, पृ0 184,
3. वहीं, पृ0 190.
4. नैषध चरित, 6.74, 20.77.
5. आख्यान मणि कोश, श्लोक 47-73.
6. रत्नावली, द्वितीय अंक, पृ0 32.
7. तिलकमंजरी, धनपाल, पृ0 138-363.
8. नवसहसांक चरित, 6. श्लोक 30.
9. हर्ष चरित, अध्याय-4, पृ0 124.
10. पु0 अग्रवाल, पूर्वोक्त, अध्याय-9. पृ0 167.
11. वहीं.
12. कुट्टनीमतम्, श्लोक 207.

प्रमाणित होता है कि विवेच्य युग में स्त्रियां चित्रकला से पूर्ण परिचित थी और इसे व्यवहार में भी प्रयोग करती थी।

हमारे अध्ययन काल में गणिकाएं और देवदासियां भी शिक्षा के विविध क्षेत्रों का अध्ययन करती थी और उनमें से कुछ तो अपने अध्ययन विषय में पारंगत होती थी। "राजतरंगिणी से ज्ञात होता है कि गणिकाओं को प्रशिक्षण एक शिक्षक से मिलता था।[1] क्यों कि बिना प्रशिक्षण के वे अपना कार्य ठीक ढंग से नहीं कर सकती थीं। गणिका वर्ग की शिक्षा के सम्बन्ध में दशकुमार चरित में वेश्या काममंजरी की माता और ऋषि मारीच के मध्य से वार्तालाप से वेश्याओं के व्यवसायोनुरूप व्यक्तित्व के विकास हेतु प्रारम्भिक जीवन वृत्त और उनके शिक्षा विषय पर प्रकाश पड़ता है। उन्हें कामशास्त्र, नृत्य संगीत, नाट्य, चित्रकला, भोज्य पदार्थ, गंध पुष्पादि की कलाओं तथा पठन-पाठन, वाक्पटुता, व्याकरण, तर्क एवं सिद्धान्त विद्या, द्यूत कला, पासा और रतिक्रिया आदि की शिक्षा दी जाती थी।[2] कथासरित्सागर में कहा गया है कि रूपणिका की माता ने कई गणिकाओं को प्रशिक्षित किया था।[3] जिससे स्पष्ट होता है कि वह स्वयं एक शिक्षित महिला रही होगी।

क्षेमेन्द्र ने गणिकाओं से चौसठ कलाओं - नृत्य, गीत, वाद्य, कामकला, हास-परिहास, अलंकरण दोष भञ्जन कला, चौर्य, उपवन, सुरालय में विचरण की कला, औषधियों का ज्ञान, केश रंजन कला, मंत्रकला आदि में निपुणता प्राप्त करने की अपेक्षा की जाती थी।[4] क्यों कि उनकी जीविका मुख्यतः इन कलाओं के प्रदर्शित करने पर निर्भर थी। राजशेखर के अनुसार उच्च वर्ग की स्त्रियों के

----

1. राजतरंगिणी, 8. 131.

2. दशकुमार. चरित, अध्याय-2, पृ0 158-59.

3. ओसन आफ स्टोरी, वाल्यूम 1, अध्याय-7. पृ0 140.

4. क्षेमेन्द्र: कला विलास, 4, 2-11.

साथ-साथ गणिका वर्ग की स्त्रियाँ भी उच्च शिक्षा प्राप्त करती थी ।[1] भोज की श्रृंगार मंजरी से ज्ञात होता है कि श्रृंगार मंजरी चौंसठ कलाओं में निपुण थी ।[2] यद्यपि चौंसठ कलाओं का ज्ञान रखने वाली स्त्रियों के उदाहरण कम ही मिलते है।

इस युग में मंदिरो में रहने वाली देवदासियों को भी नृत्य एवं गायन में पारंगत कराया जाता था । कश्मीर के राजा जयापीड़ (9वीं सदी ई0) ने एक मंदिर में देवदासियों को भरत नाट्यम् करते हुए देखा ।[3] सोमनाथ मंदिर में पांच सौ नृत्यांगनाओं का उल्लेख प्राप्त होता है।[4] तंजौर के मंदिर में चार-सौ देवदासियाँ रहती थी ।[5] दक्षिण भारत के मंदिरो में इस प्रकार के अनेक उदाहरण देखने को मिलते है।

हमारे अध्ययन काल में स्त्रियाँ अभिनय कला में भी रूचि लेती थी । कुट्टनीमतम् से ज्ञात होता है कि मंजरी को भरत के नाट्यशास्त्र का ज्ञान था ।[6] राजा हरिहर ने लक्ष्मर नाट्याचार्य को अन्तःपुर की रानियों को नाट्य शिक्षा देने के लिए नियुक्त किया था ।[7] विक्रमांक देव चरित में प्रवरपुर नगर में होने वाले अभिनयों में सुन्दर आँख वाली स्त्रियों के सुन्दरकरण संग नामक भावव्यंजक अंग-विक्षेप विशेष से युक्त अभिनय कला के कौशल का विवरण प्राप्त होता है।[8] प्रियदर्शिका में कहा गया है कि सांकृत्यायनी के निर्देशन में राजा उदयन और रानी वासवदत्ता की कथा को नाटक के रूप में मंचित

---

1. काव्य मीमांसा, पृ0 53.
2. श्रृंगार मंजरी, पृ0 12-15.
3. राजतरंगिणी, 5. 423.
4. इलियट : हिस्ट्री आफ इण्डिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियंस, वाल्यूम-2, पृ0 472.
5. सा0इ0इ0, पृ0 259.
6. कुट्टनीमतम्, पृ0 1007-8.
7. वाचस्पति द्विवेदी: पूर्वोक्त, पृ0 184.
8. विक्रमांक देव चरित, भाग-3, अध्याय 18, श्लोक-29.

किया गया, जिसमें उदयन की भूमिका मनोरमा और वासवदत्ता की भूमिका आरण्यका ने निभायी थी ।[1] राजशेखर की पत्नी अवन्ति सुन्दरी के कहने पर कर्पूर मंजरी नाटिका का प्रदर्शन हुआ था ।मत्स्य पुराण में त्रिपुर स्त्रियों के विषय में वर्णन है कि हाव-भाव के द्वारा वहाँ के निवासियों को आह्लादित करती थीं ।[2]इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि तद्युगीन समाज में ऐसी भी स्त्रियाँ थीं जो उच्च कोटि की नाट्य विद्या का ज्ञान रखती थीं ।नाटकों के सार्वजनिक मंचन के पीछे मनोरंजन के साथ ही साथ सामाजिक शिक्षा की भावना अन्तर्निहित रही होगी।

ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ सिलाई और कताई-बुनाई जैसे तकनिकी कार्यों को भी करती थीं ।यद्यपि इसके अल्प उदाहरण ही प्राप्त होते हैं।मेधातिथि के अनुसार कताई गरीब विधवाओं के लिए जीविका का साधन था ।[3]दायभाग् से ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ कताई-बुनाई के द्वारा जीविकोपार्जन, करती थीं ।[4] धनराम ने अपने धर्ममंगल कविताओं में सरिका के सिलाई कार्य का मामूली उल्लेख किया ।[5]ऐसा प्रतीत होता है कि कढ़ाई-बुनाई से युक्त सीले वस्त्रों को उच्च वर्ग की स्त्रियाँ पहनती रही होंगी ।सामान्य स्त्रियों को ये वस्त्र सुलभ नहीं रहे होंगे ।लेकिन इतना अवश्य कहा जा सकता है कि व्यवसाय से सम्बन्धित और कुछ शौकिन स्त्रियाँ इनवस्त्रों का प्रयोग करती रही होंगी ।

----

1. प्रियदर्शिका, अंक-3, पृ0 41, 53.
2. मत्स्यपुराण, 131/9.
3. मेधातिथि पर मनु, 5/155.
4. जीमूतवाहन, दायभाग, अध्याय-4, 1. 18-19.
5. टी0सी0दास गुप्ता: पूर्वोक्त, पृ0 198.

विवेच्य युग में राजपरिवार एवं सम्पन्न वर्ग की स्त्रियां न केवल स्वयं शिक्षा प्राप्त करती थी ,अपितु शिक्षा के विकास में रूचि लेती थी,और इसके लिए अनेक प्रकार से सहयोग करती थी ।इस संदर्भ में कश्मीर कीरानियाँ और राजकुमारियों का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है।राजा अनन्त की रानियां आशामती और सूर्यमती द्वारा शिक्षा संस्थाओं को अनुदान दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[1]राजकुमारी लोथिका द्वारा भी अनुदान दिये जाने का प्रमाण मिलता है।[2] राजा हर्ष की पत्नी जयामति ने दो विहार और एक मठ बनवाया था ।[3] राजतरंगिणी में राजा जयसिंह की पत्नी रत्ना-देवी द्वारा बनवाये गये विहार को पृथ्वी का सबसे प्रतिष्ठित विहार कहा गया है।[4] कल्हण के अनुसार रानी सुगन्धा ने गोपाल मठ का निर्माण करवाया था ।[5] रानीदीद्दा द्वारा भिक्षुणियों के निवास हेतु म0 निर्मित कराने का उल्लेख है।[6]

कल्हण राजा मेघवाहन की रानी द्वारा निर्मित बौद्धमठ का उल्लेख करता है,जहां अर्द्धभाग में शिक्षाचार रत भिक्षुओं तथा अर्द्धभाग में स्त्री ,एवं गृहस्थों के लिए व्यवस्था थी ।[7]चक्रवर्मा की डोम्ब रानी हंसी ने पाशुपतों के आश्रय हेतु चक्रमठ के निर्माण को पूर्ण कराया था ।[8]बाला दित्य की रानी बिम्बा द्वारा बिम्बेश्वर शिव मठ के निर्माण का उल्लेख है।[9]

कीर्ति वर्मा के अभिलेख से पता चलता है कि मलाला देवी ने अग्रहार के

---

1. राजतरंगिणी: 7. 151,7. 182-83.

2. वहीं, 7. 120.

3. वही, 8. 246-48.

4. वही. 8. 2402"सर्व प्रतिष्ठाप्रष्ठत्वं विहार:प्रथमं गतः" ।

5. वही. 5. 244.

6. वही. 6. 304

7. वही. 3. 12.

8. वही. 5. 404.

9. वही. 3. 382.

ब्राम्हणों से भूमि को खरीदकर एक जैन मठ को दान में दिया था ।[1] हिन्दू राजा गोविन्द चन्द्र की बौद्ध पत्नी कुमार देवी द्वारा बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सारनाथ में एक बौद्ध विहार को अनुदान देने का प्रमाण मिलता है, जो 1200ई0तक था।[2] 1119ई0 के एक जैनअभिलेख में एक पाठशाला का उल्लेख है। जिसको बाला या वल्लन की माता एवं बहन ने निर्मित कराया था ।[3] चिंगल पुट जिले के तिरुवोरियूर नामक स्थान पर एक स्त्री द्वारा एक मठ की स्थापना का उल्लेख मिलता है।[4] राजा चन्द्रापीड की पत्नी प्रकाश-देवी ने प्रकाशिका नामक एक विहार बनवाया था ।[5] इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि तद्युगीन उच्चवर्ग की स्त्रियों ने शिक्षा के प्रोत्साहन के लिए अनेक शिक्षालयों की स्थापना करवाया, और उसके व्यवस्था के लिए अनुदान दिया ।

हमारे अध्ययन काल में स्त्री शिक्षा का उद्देश्य यद्यपि आर्थिक दृष्टि से उन्हें आत्मनिर्भर बनाना नहीं था, तथापि आवश्यकता पड़ने पर स्त्रियां अपनी शिक्षा एवं प्रशिक्षण का उपयोग जीविकोपार्जन के लिए करती थी । नवी सदी में विधवाएं कताई-बुनाई आदि के द्वारा अपना जीवन निर्वाह करती थी ।[6] आलोच्यकाल में स्त्रियों के अध्यापन कार्य द्वारा तथा देव-दासियों को नृत्य और संगीत की शिक्षा देने के माध्यम से धनोपार्जन करने के पर्याप्त प्रमाण मिलते है।

ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि यद्यपि राज-घरानो तथा सम्पन्नवर्ग की स्त्रियां शिक्षित हुआ करती थी, लेकिन ऐसे

---

1. ज0वि0रि0सो0, जिल्द 46, भाग-1-4, पृ0 125.
2. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ0 87.
3. जैन शिलालेख संग्रह, पृ0 84.
4. ज0वि0रि0सो0, जिल्द 46, भाग-1-4, पृ0 127, 1970.
5. राजतरंगिणी, 4.79.
6. मनु पर मेधातिथि, 5/157.

परिवारों के स्त्रियों की संख्या समाज में संभवतः बहुत कम थी। इस युग में स्त्रियों में साक्षरों की संख्या घटने लगी तथा उनकी शिक्षा संकुचित होने लगी थी।[1] सैद्धान्तिक रूप से स्त्रियों का शिक्षा सम्बन्धी अधिकारों का हनन हुआ। किन्तु अध्ययन के विषयों में परिवर्तन और व्यापकता भी दृष्टिगत होता है। जैसे गणिकाओं और देवदासियों के शिक्षण कार्य का उल्लेख अपेक्षाकृत अधिक मिलता है। विचारणीय प्रश्न उठता है कि हमारे अध्ययन काल में सामान्य वर्ग की स्त्रियों में शैक्षणिक ह्रास के क्या कारण थे? 700ई0 से 1200ई0 के काल में विदेशी आक्रमण, और सामन्तवाद दोनों में ही वृद्धि हुई। डा0 बी0 एन0 एस0 यादव का तो यहाँ तक मानना है कि सामन्तवाद के प्रभाव से ही स्त्रियों की उन्मुक्तता का चित्रण तत्कालीन मूर्तिकला में किया गया।[2] तद्युगीन समाज में राजनैतिक अस्थिरता से सामाजिक असुरक्षा बढ़ी। जिसके प्रभाव से सूत्रकारों और चिन्तकों ने स्त्रियों के जीवन को अधिकाधिक नियंत्रित करने का प्रयास किया। साथ ही ऐसे विषयों की शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया, जो घरों में रहकर भी प्राप्त की जा सकें। स्त्री शिक्षा के ह्रास का एक कारण यह भी था कि उनकी विवाह कम आयु में करने का विधान बनाया गया। आलोच्य काल में शास्त्रकारों ने रजोदर्शन के पूर्व बालिकाओं का विवाह न करने वाले पिता को नरकगामी कहा।[3] सोमदेव के अनुसार दैनिक क्रियाकलापों के अतिरिक्त अन्य किसी क्षेत्र में स्त्री को स्वतंत्रता नहीं प्रदान करनी चाहिए।[4] मेधातिथि ने स्त्रियों को स्वतंत्रता की अधिकारिणी नहीं बताया है।[5] देवीभागवत -

---

1. अल्तेकर: पूर्वोक्त, पृ0 181.

2. 19 मार्च 1993 को इलाहाबाद संग्रहालय के तत्वाधान में "मध्यदेश की कला और संस्कृति" विषय पर आयोजित राष्ट्रीय सेमीनार में।

3. दि कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया, भाग 2, पृ0 595. :, या0स्मृति, -3.64, बृहस्पति, 24.3, यम 3.22. पराशर 7.6.

4. नीतिवाक्यामृतम्, 24, 39.

5. मेधातिथि, 5.145.

पुराण के अनुसार कन्या सर्वदा पराधीन है, वह कभी भी स्वतंत्रता प्राप्त नहीं कर सकती।[1] कुल्लूक का मत है कि पिता, पुत्र, पति के नियन्त्रण से मुक्त स्त्री पति और पिता के वंश को निन्दित करती है।[2] जातक कथाओं में कहा गया है कि जिस स्त्री का शील नष्ट हो गया हो और जो पवित्र विचार की नहीं है उन्हे शिक्षा न दी जाय।[3] कृत्य कल्पतरु के अनुसार पति की जीवितावस्था में व्रतोपवास करने वाली स्त्री पति की आयु का क्षय करती है और नरकगामी होती है।[4] अधिकांश परवर्ती स्मृतियों ने स्त्रियों के लिए पति सेवा को ही उसकी परमगति का साधन और स्त्री धर्म बताया है।[5] इस प्रकार आलोच्य काल में परिस्थितियों में परिवर्तन एवं सामाजिक जटिलताओं का दुष्प्रभाव तत्कालीन स्त्री शिक्षा पर पड़ा तभी भाष्यकार असहाय ।8वीं सदी ई0। लिखते है कि चूँकि स्त्रियों को शास्त्र का ज्ञान नहीं था इसलिए वे अपने कर्तव्यों की अवहेलना कर सकती है।[6] मत्स्य पुराण में कहा गया है कि ब्रह्मा ने शास्त्र अध्ययन का अधिकार स्त्रियों के लिए आकृप्त नहीं किया है अतएव उनके वचन में स्वाभाविक हीनता रहती है।[7]

विवेच्य युग में सामाजिक व्यवस्थाकारों द्वारा तद्युगीन स्त्रियों के शास्त्र अध्ययन पर प्रतिबन्ध के कारण केवल पारिवारीक मामलों का प्रशिक्षण उनको अपने घरों में ही प्राप्त होता था। स्मृति चंद्रिका में कहा गया है कि पिता, पिता का भाई अथवा भाई, कन्या को पढ़ावे परन्तु कोई आगन्तुक कभी न पढ़ाए।[8] निर्णय सिन्धु में भी स्त्री के पति को ही उसका गुरु

---

1. देवी भागवत पुराण, 6. 22. 33.
2. कुल्लूक, 5. 147.
3. जातक संख्या, 194.
4. कृत्य कल्पतरु, व्य0कां0, पृ0 628. स्मृति चंद्रिका, व्य0कां0, पृ0 530,
5. पराशर माधवीय, 4. 12. 19. पृ0 31-32. स्मृति चन्द्रिका व्य0कां0, पृ0 530, कृत्यकल्पतरु, व्य0कां0. पृ0 620, 627.
6. नारद, 13. 30, पृ0 197. पादटिप्पणी.
7. मत्स्य पुराण, 154/156.
8. स्म0चं0, आ0कां0, पृ0 41.

कहा गया है।[1] इसी प्रकार मेधातिथि ने भी कहा है कि स्त्रियों को अपना कार्य करने के लिए अधिक शिक्षा की आवश्यकता नहीं है।यदि आवश्यकता पड़े तो पति की शिक्षा उनके काम आ सकती है।[2] इस प्रकार की शैक्षणिक व्यवस्था के कारण स्त्रियाँ शिक्षा से वंचित होती गयी, क्यों कि जन सामान्य के लिए यह एक दुष्कर कार्य था ।शास्त्रकारों ने यह भी विधान बनाया कि पत्नी को पति से कम से कम तीन वर्ष आयु में छोटा होना चाहिए ।[3]अल्बेरूनी ने भी लिखा है कि हिन्दू बहुत छोटी अवस्था में विवाह करते है। कोई बारह वर्ष से अधिक अपनी कन्या को कुआँरी नहीं रखता ।[4] ऐसी परिस्थिति में तद् - युगीन समाज में स्त्री शिक्षा का प्रसार नहीं हो सकता था, क्यों कि बालि - काओं के संरक्षक, शिक्षा व्यवस्था की जगह उनके वैवाहिक कार्य करने के लिए प्रयासरत रहे होंगे ।

जैसे-जैसे अरबों, मुसलमानों का प्रभाव बढ़ा, पर्दा प्रथा भी बढ़ी ।यह प्रथा भी स्त्रियों की शिक्षा में बाधक बनी ।मिताक्षरा में विज्ञानेश्वर ने नारी पर अनेक नियन्त्रण लगाये है।शंख को उद्धृत करते हुए उनका कहना है कि स्त्री घर से बिना आज्ञा लिए ,बिना उत्तरीय ओढ़े, बाहर न जाए, शीघ्रता पूर्वक न चले, बनिये, सन्यासी, वृद्ध, वैद्य के अतिरिक्त किसी पर पुरुष से बात न करे।[5] कभी-कभी अध्यापक द्वारा शिक्षा प्रदान करते समय भी कन्या और अध्यापक के मध्य पर्दे की व्यवस्था की जाती थी ।[6]प्रबन्धकोश में अध्यापक के सिखाने

---

1. निर्णय सिन्धु, पृ0 1057.
2. मनु पर मेधातिथि, 2. 16.
3. या0स्0, 1. 52, गौतम, 4, मनु, 3. 4. 12.
4. अल्बेरूनीज इण्डिया, भाग-2, पृ0 131, 155.
5. मिताक्षरा, 1. 87.
6. चौरपंचाशिका, दक्षिणात्य पाठानुसारेण, श्लोक 28.

पर एक राजकुमारी द्वारा पर्दे के पीछे से कविता लिखने का उल्लेख मिलता है।[1]

बौद्ध संघों में स्त्रियों को प्रवेश की अनुमति तो प्राप्त थी, किन्तु वहां भी उन पर पर्याप्त नियन्त्रण था। सुश्री कल्पना पाठक ने अपने शोधकार्य में भिक्षुणी जीवन पर पूर्ण प्रकाश डाला है।[2] जिससे ज्ञात होता है कि स्त्री भिक्षु को पुरुष भिक्षुओं जैसे समानता नहीं प्राप्त थी, यद्यपि वे अध्यापन कार्य भी करती थी, किन्तु वह भी सीमित दायरे में ही था।[3] कालांतर में बौद्ध धर्म में तन्त्र का इतना अधिक समावेश हुआ कि उसके दुष्प्रभाव से संघ का जीवन दूषित होने लगा था। अत: पुन: संघ में स्त्री प्रवेश कुंठित होने लगा। इस युग में किसी भी विदुषी भिक्षुणी का उल्लेख नहीं मिलता है।[4] राजतरंगिणी से ज्ञात होता है कि एक बौद्ध भिक्षु ने ऐन्द्र जालिक क्रिया से राजा की पत्नी को अपने साथ भगा ले गया, जिससे राजा ने क्रोध में आकर अनेक मठों को जलवा दिया और अग्रहार में दिये गांव वापस ले लिए।[5] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि अनेक दिशाओं से स्त्री शिक्षा बाधित होने लगी। वाचस्पति मिश्र। नवीं सदी। ने लिखा है कि अच्छे परिवारों की स्त्रियां बिना पर्दे के लोगों के बीच में नहीं आती थी।[6] किन्तु सदैव ही ऐसा नहीं होता था। अबू बैद। नवीं सदी। ने लिखा है कि दरबार के समय अधिकतर रानियां बिना पर्दे के ही बैठती थी।[7]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि हमारे अध्ययन काल में स्त्रियों के

----

1. प्रबन्धकोष, मदनाकीर्ति प्रबन्ध, पृ0 64.
2. पाठक, कल्पना, बुद्धिस्ट नन्स-एस्टडी, पृ0 168.
3. वहीं, पृ0 162.
4. अलतेकर: पूर्वोक्त, पृ0 166.
5. राजतरंगिणी, 2. 199-200.
6. दि कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया, भाग-2, पृ0 595.
7. वहीं. पृ0 596.

अध्ययन-अध्यापन की परम्परा पूर्ववत् चल रही थी, किन्तु उनके वेदाध्ययन पर प्रतिबन्ध लग गया था। इसके साथ ही साथ यह भी देखा जाता है कि उच्च वर्ग की स्त्रियों के लिए ललित कलाओं एवं अन्य बहुत से विषयों की शिक्षा सुचारू रूप से दी जाती थी। अनेक स्त्रियों ने उसमें दक्षता भी प्राप्त की थी। जहाँ तक सामान्य वर्ग की स्त्रियों का प्रश्न है, वह अधिक संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। आलोच्यकाल में स्त्री शिक्षा सामान्य न होकर वर्ग विशेष तक सीमित हो गयी थी।

====================

संदर्भ ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

मौलिक ग्रन्थ एवं अनुवाद

अथर्ववेद, रघुवीर द्वारा सम्पादित, लाहौर, डब्ल्यू0डी0ह्वीटने (अनुवाद) संयुक्त राज्य अमेरिका, 1905.।

अर्थशास्त्र, कौटिल्य, सम्पादित आर0शाम शास्त्री मैसूर, 1919 ।

अभिज्ञान शाकुन्तलम् कालिदास, एस0आर0शास्त्री (अनुवाद), मद्रास, 1858 ।

अपभ्रंश काव्यत्रयी, जिनदत्तसूरि, बड़ौदा, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज ।

अग्निपुराण, बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा विश्व भारती, वाराणसी, 1966 ।

अपरार्क (टीकाकार), याज्ञवल्क्य स्मृति ।

असहाय नारद स्मृति की टीका ।

अभिनवभारती, अभिनव गुप्त, बड़ौदा, 1926.

अभिधान चिन्तामणि, हेमचन्द्र, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1964 ।

आपस्तम्ब धर्म सूत्र, जी बुलर, बम्बई संस्कृत सीरिज, बम्बई, 1932 ।

आश्वलायन गृह्यसूत्र, हरमन ओल्डेन बर्ग (अनुवाद) आक्सफोर्ड, 1886 ।

उत्तर राम चरित, भवभूति, मोतीलाल बनारसीदास, 1963 ।

उक्ति व्यक्ति प्रकरण, पंडित दामोदर, बम्बई, 1953 ।

उपमिति भव प्रपञ्चकथा, सिद्धार्थ, सम्पादित, पी0पीटरसन, कलकत्ता, 1899 ।

कर्पूरमंजरी, राजशेखर, मेरठ, 1973 ।

कथासरित्सागर, सोमदेव, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ।

कथा कोश प्रकरण, जिनेश्वर सूरि, सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई ।

कल्कि पुराण, अशोक चटर्जी शास्त्री (सम्पादक) शोध संस्थान, वाराणसी संस्कृत -
-विश्वविद्यालय 1972 ।

कृत्यकल्पतरु, लक्ष्मीधर, ब्रह्मचारी काण्ड, जी0ओ0एस0, बड़ौदा, 1948.

==============

कादम्बरी, बाण, एम0आर0काले ।अनुवाद। , बम्बई, 1924.

काव्य मीमांसा, राजशेखर, डा0 गंगा सागर राय ।अनुवाद।वाराणसी 1964.

कामन्दकीय नीतिसार, श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई ।

काव्यानुशासन, हेमचन्द्र, आर0सी0परिख ।अनुवाद। 1936

कुट्टनीमतम् दामोदर गुप्त, इण्डोलाजिकल बुक हाउस , वाराणसी, 1961.

गौतम धर्म सूत्र, हरदत्त के भाष्य के साथ चौखम्भा संस्कृत आफिस, वाराणसी, 1966.

चौरपंचाशिका, बिल्हण, चौखम्भा संस्कृत सीरिज आफिस, 1971.

दशकुमार चरित, दण्डिन, निरंजनदेव विद्यालंकार का हिन्दी अनुवाद ।

देशोपदेश, क्षेमेन्द्र, पूना, 1924 ।

नवसाहसांक चरित, पद्मगुप्त, 1895 ।

नर्ममाला, क्षेमेन्द्र, पूना 1924 ।

नलविलास, रामचन्द्र सूरि, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज, 1929 ।

नलचम्पू, त्रिविक्रम भट्ट, चौखम्भा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, 1967 ।

नागानन्द, श्री हर्ष, मद्रास, 1932

निर्णय सिन्धु, कमलाकर भट्ट, ठाकुर प्रसाद एण्ड संस, सं0 2027 ।

नीतिशतक, भर्तृहरि, बनारस, 1955 ।

नीतिवाक्यामृत, सोमदेव सूरि, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1972.

नीतिकल्पतरु, क्षेमेन्द्र , 1956.

नैषधीय चरित, श्री हर्ष, चण्डिका प्रसाद शुक्ल ।अनुवाद।देहरादून, 1951

पद्मपुराण, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी ।

पराशर माधवीय, माधवाचार्य ।

परिशिष्टपर्वन, हेमचन्द्र, एच0जैकोबी ।सम्पादित।कलकत्ता 1883 ।

प्रबन्ध कोश, राजशेखर सूरि, शान्ति निकेतन, 1935.

=============

प्रबन्ध चिन्तामणि, मेरुतुंगाचार्य, सिन्धीजैन ग्रन्थ माला, 1901

प्रभावक चरित, प्रभाचन्द्रसूरि, कलकत्ता, 1940 ।

पृथ्वीराजरासो चन्दबरदाई, राजस्थान, वि०सं० 2012 ।

पृथ्वीराज विजय, जयानक, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, 1941 ।

प्रियदर्शिका, श्री हर्ष, मद्रास, 1948.

बृहस्पति स्मृति, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज, 1941 ।

बृहदारण्यक उपनिषद, ह्युम ।अनुवाद। आक्सफोर्ड, लन्दन

ब्राह्मण सर्वस्व हलायुध, कलकत्ता, 1893 ।

बृहद्कथा मंजरी, क्षेमेन्द्र, 1886 ।

भोज प्रबन्ध, बल्लालदेव, पटना, 1955

मनुस्मृति और कुल्लूक का भाष्य, चौखम्भा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, 1970.

मनुस्मृति और मेधातिथि का भाष्य, गुरु मण्डल ग्रन्थमाला, मनसुखराय मोर,
-कलकत्ता 1971 ।

मानसोल्लास, सोमेश्वर, बड़ौदा, 1939.

मत्स्य पुराण, पूना, 1907

मालविकाग्निमित्रम्, कालिदास, एस०के०राव, मद्रास, 1951

मालती माधव, भवभूति, आर०जी० भण्डारकर ।अनुवाद। बम्बई, 1976.

याज्ञवल्क्य स्मृति, और विज्ञानेश्वर का भाष्य, चौखम्भा संस्कृत सीरिज आफिस,-
वाराणसी, 1967.

याज्ञवल्क्य स्मृति और विश्वरूपाचार्य का भाष्य, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली,
- 1904 ।

यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य, सोमदेव सूरि, आनन्द प्रेस, वाराणसी, 1971 ।

रत्नावली, श्री हर्ष, एस०आर०शास्त्री ।अनुवाद।, मद्रास, 1952 ।

राजतरंगिणी, कल्हण, रामतेज शास्त्री ।हिन्दी अनुवाद।, काशी, 1960 ।

ललित विस्तर, बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली, दरभंगा, 1958 ।

विष्णुपुराण, बम्बई, 1889 ।

==============

विक्रमांक देव चरित, बिल्हण, हिन्दू विश्वविद्यालय संस्कृत साहित्य रिसर्च कमेटी,
- 1958 ।

वैजयन्ती, यादव प्रकाश चौखम्भा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, 1971

शुक्रनीतिसार, बी0 के0 सरकार। अनुवाद। इलाहाबाद, 1914 ।

स्कन्द पुराण ।

स्मृति चंद्रिका, देवण्णभट्ट ।

स्मृतिनाम समुच्चय, आनन्द आश्रम संस्कृत ग्रन्थावली में संग्रहीत ।

समराइच्चकहा, हरिभद्रसूरि, सम्पादित, एच0 जेकोबी, कलकत्ता, 1926 ।

सरस्वती कण्ठाभरण, भोज, त्रिवेन्द्रम्, 1948 ।

सन्देशरासक, सिन्धीजैन ग्रन्थमाला, 22, बम्बई, 1945 ।

सुसीम जातक, नं0 437 ।

सुभाषित रत्न भण्डागार, आचार्य नारायण राम, बम्बई, 1952 ।

सूक्ति मुक्तावली, जल्हण, बड़ौदा, 1938 ।

षोडश संस्कार विधि, इटावा, 1915 ।

शृंगारमंजरी कथा, भोजदेव, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, 30, बम्बई01959 ।

हलायुधकोश, हिन्दी समिति, लखनऊ, 1967 ।

हर्ष चरित, बाण-भट्ट, काउवेल। अनुवाद। लन्दन, 1897 । हिन्दू अनुवाद, वाराणसी,
5 1958 ।

हितोपदेश, नारायण। सम्पादित। , बम्बई, 1887 ।

त्रिशष्टि शलाकापुरुष चरित, हेमचन्द्र, बम्बई ।

ऋग्वेद संहिता, एफ0 मैक्समूलर। सम्पादित। आक्सफोर्ड, 1890-92

विदेशी विवरण
==========

अल्बेरूनीज इण्डिया, भाग 1, 2, ई0सी0सचाऊ, नई दिल्ली, 1964 ।
-लन्दन, 1888 ।

======== ===

आन ह्वेनसांग ट्रैवेल्स इन इण्डिया,वाटर्स,दिल्ली,1961

ए रिकार्ड आफ दि बुद्धिस्ट रिलिजन,जे०ए० ताकाकुसु दिल्ली,1966,आक्सफोर्ड, 1896 ।

इलियट,एच०एम०,हिस्ट्री आफ इण्डिया ऐज टोल्ड वाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स,कलकत्ता 1952 ।

लाइफ आफ युवान्-च्वांग,बील,लन्दन, 1911 ।

ह्वेनसांग की भारत यात्रा,।हिन्दी अनुवाद।,ठाकुर प्रसाद शर्मा,इलाहाबाद

बुद्धिस्ट प्रैक्टिसेज इन इण्डिया,लन्दन ,1896 ।

जरनल्स

=====

आर्कियालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया,एनुअल रिपोर्ट्स ।

इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू ।

इण्डियन एन्टिक्वेरी ।

इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली,कलकत्ता ।

इम्पीरियल गजेटियर आफ इण्डिया ।

इन्सक्रिप्शन्स आफ बिहार,डी०बी०सहाय ।

एपिग्राफिया इण्डिका ।

एपिग्राफिया कर्नाटिका ।

कार्पस इन्सक्रिप्शनम इन्डीकेरम,वाल्यूम-4,

कार्पस आफ बंगाल इन्सक्रिप्शन्स ।

जरनल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल,कलकत्ता

जरनल आफ बंगाल टीचर्स एसोसियेशन ।

जरनल आफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी।

जरनल आफ दि युनाइटेड प्रोविन्सेज हिस्टारिकल सोसाइटी ।

जरनल आफ दि बाम्बे ब्रान्च आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी,बाम्बे ।

जरनल आफ एशियाटिक सोसाइटी आफ बाम्बे ।

ट्रान्जेक्शन्स आफ दि इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस ।

मेमायर्स आफ दि आर्कियालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया ।

=========

साउथ इण्डियन इन्स्क्रप्शन ।

अन्य पुस्तकें
=========

अलतेकर, ए०एस०, एजुकेशन इन एन्शियेन्ट इण्डिया, बनारस, 1948.
" " पोजीशन आफ वुमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन दिल्ली 1956.
" " प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति, वाराणसी, 1979-80.
" " स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एन्शियेन्ट इण्डिया, दिल्ली-1955,
" " राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स, पूना, 1934 ।
अग्रवाल, वासुदेव शरण, हर्ष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना,
" " कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी 1958.
अग्रवाल, के०एल०एवं पाल, डा०एस०के०, शिक्षा के सामान्य सिद्धान्त ।
अग्रवाल यू०, खजुराहो स्कल्पचर एण्ड देअर सिग्नीफिकेन्स ।
अग्रवाल, एस०के०, शिक्षा के तात्त्विक सिद्धान्त ।
आप्टे, बी०डी०, युनिवर्सिटीज इन ऐशियेन्ट इण्डिया, बड़ोदरा ।
ओशिया, सोशल डेवलपमेंट एण्ड एजुकेशन ।
ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द्र, मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, इलाहाबाद 1966 ।
इन्दिरा, स्टेटस आफ वुमेन, बनारस, 1955 ।
इलियट एण्ड डाउसन, भारत का इतिहास, जिल्द 1, 1973. जिल्द 2-3, 1974-आगरा, हिन्दी अनुवाद ।
उपाध्याय, वासुदेव, पूर्व मध्यकालीन भारत, पटना ।
उपाध्याय, रामजी, भारत की सांस्कृतिक साधना, इलाहाबाद ।
उपाध्याय, ए स्टडी एशियेन्ट इण्डियन इन्स्क्रीप्सन ।
उपाध्याय वासुदेव, दि सोशियो रिलिजस कन्डीशन्स आफ नार्दर्न इण्डिया - 1700ई०से 1200ई०। , वाराणसी, 1964 ।
कनहान, राजा, सी०, समरेस्पेक्ट्स आफ एजुकेशन इन ऐशियेन्ट इण्डिया, 1950

==========

काणे,पी०वी०,धर्मशास्त्र का इतिहास,भाग-1,1970,भाग-2,1973,भाग-3,
1966,हिन्दी समिति,लखनऊ।

काउवेल,ई०वी०एण्ड थामस,एफ०डब्लू०,हर्ष चरित ।अंग्रेजी अनुवाद।

कीथ,ए०बी० ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर,लन्दन,1920।

कौशाम्बी,डी०डी०प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता।हिन्दी अनुवाद।-
दिल्ली 1977.

गांगुली,डी०सी०,हिस्ट्री आफ परमार डाइनेस्टी,ढाका,1933।

गोपाल,एल०,दि०इकनामिक लाइफ आफ नार्दर्न इण्डिया,1965.

घोषाल,यू०एन०,स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर,1965

चोपरा,पी०एन०,ए सोशल कल्चरल एण्ड इकनामिक हिस्ट्री आफ इण्डिया।

चौधरी,रमा,वुमेन एजुकेशन इन एंशियेन्ट इण्डिया,कलकत्ता 1929.

जयसवाल,के०पी०,मनु एण्ड याज्ञवल्क्य,कलकत्ता,1930।

जैन,गोकुल चन्द्र,यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन अमृतसर ,1967.

तारानाथ,भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास ।रिग्जिनलुन्दुपलामा।

थापर,रोमिला,भारत का इतिहास,दिल्ली,1975।

दत्त,रोमेश चन्द्र,लेटर हिन्दू सिविलाइजेशन ।500ए०डी० से 1200ए०डी०।
कलकत्ता,1965।

दास,आर०एम०,वुमेन इन मनु ऐण्ड हिज सेवेन कमन्टेटर्स,वाराणसी,1962।

दास,एस०के०,एजुकेशन सिस्टम आफ दि एंशियेन्ट हिन्दूज,कलकत्ता,1930।

दास,एस०सी०,इण्डियन पांडित्स इन दि लैण्ड आफ स्नो,कलकत्ता,1893।

दास गुप्ता,टी०सी०,सम ऐस्पेक्ट्स आफ बंगाली सोसाइटी फ्राम ओल्ड बंगाली
लिटरेचर,कलकत्ता, 1935।

दिवाकर,आर०आर०,बिहार थ्रू दि एजेज,बम्बई,1958।

द्विवेदी,वाचस्पति,कथासरित्सागर एक सांस्कृतिक अध्ययन,पटना।

द्विवेदी,शालिग्राम,मृच्छकटिक,शास्त्रीय,सामाजिक एवं राजनीतिक अध्ययन,-
-वाराणसी

============

देवी, डा० गीता, उत्तर भारत में शिक्षा व्यवस्था ।600ई० से ।200ई०।,
इलाहाबाद, 1980 ।

नदवी, अरब और भारत के सम्बन्ध, हिन्दुस्तान अकादमी, प्रयाग ।

पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, हिन्दी समिति, सूचना-
विभाग, लखनऊ, 1976 ।

पाण्डेय, राजबली, हिन्दू संस्कार, दिल्ली, 1976 ।

पाण्डेय, राजबली, हिस्टारिकल एण्ड लिटरेरी, इन्स्क्रीप्शन्स ।

पाल, प्रमोद लाल, दि अर्ली हिस्ट्री आफ बंगाल, कलकत्ता, 1940 ।

पाठक, विशुद्धानन्द, उत्तर भारत का राजनैतिक इतिहास ।

प्रकाश, बुद्ध, भारतीय धर्म एवं संस्कृति, मेरठ ।

प्रभु, पी०एन०, हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन, बम्बई, 1954 ।

बाशम, ए०एल०, द वन्डर दैट वाज इण्डिया लन्दन, 1956.

बोस, पी०एन० इण्डियन टीचर्स आफ बुद्धिस्ट युनिवर्सिटीज मद्रास, 1923 ।

भाटिया, प्रतिपाल, दि परमाराज, दिल्ली, 1970.

मजूमदार, आर०सी० हिस्ट्री आफ बंगाल, कलकत्ता, 1971 ।

मजूमदार, आर०सी०, ग्रेट वुमेन आफ इण्डिया, कलकत्ता, 1953

मजूमदार, आर०सी०, दि क्लासिकल एज, बम्बई, 1954 ।

मजूमदार, आर०सी०, दि एज आफ इम्पिरियल कन्नौज, 1966.

मजूमदार, आर०सी०, दि स्ट्रगल फार एम्पायर, बम्बई, 1979

मजूमदार, बी०पी०, सोशियो-इकोनामिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया -
।1030ई० से ।194ई०। कलकत्ता, 1960.

मजूमदार, ए०के०, चालुक्य आफ गुजरात, बम्बई, 1956.

मिश्र, जयशंकर, प्रसाद प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रन्थ
अकादमी, पटना, 1986 ।

============

मिश्र, जयशंकर प्रसाद, ग्यारहवीं सदी का भारत, वाराणसी, 1968 ।

मिश्र, केशवचन्द्र, चन्देल और उनका राजत्वकाल, काशी, सम्वत 2011.

मित्रा, वेद, एजुकेशन इन ऐंशियेन्ट इण्डिया ।

मुकर्जी, आर०के०, दि कल्चर एण्ड आर्ट आफ इण्डिया ।

मुकर्जी, आर०के०, एंशियेन्ट इण्डियन एजुकेशन दिल्ली, 1974 ।

मैक्डानल एण्ड कीथ, हिस्ट्री आफ एंशियेन्ट संस्कृत लिटरेचर, वाराणसी, 1962।

यादव, बी०एन०एस०, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया, 1973,

यादव, झिनकू, समराइच्चकहा-एक सांस्कृतिक अध्ययन, 1977.

राहुल सांकृत्यायन, हिन्दी काव्य धारा, इलाहाबाद, 1945 ।

रावत, पी०एल० भारतीय शिक्षा का इतिहास ।

बसु, एन०एन०, दि सोशल हिस्ट्री आफ कामरूप, कलकत्ता ।

वैंकटेश्वर, एस०वी० इण्डियन कल्चर थ्रु दि एजेज, मैसूर, 1928.

वैद्य, सी०वी० हिस्ट्री आफ मेडीवियल हिन्दू इण्डिया, पूना ।

शर्मा, गोपीनाथ, राजस्थान इतिहास के स्रोत, जयपुर, 1973.

शर्मा, गोपीनाथ, राजस्थान का इतिहास, आगरा 1980

शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डाइनेस्टी ।

शर्मा, रामशरण, पूर्व मध्यकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन, दिल्ली, 1975.

शर्मा, बी०एन० सोशल एण्ड कल्चरल हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया, दिल्ली 1972.

शर्मा, बी०एन०, सोशल एण्ड लाइफ इन नार्दर्न इण्डिया, दिल्ली, 1966,

शास्त्री, नीलकण्ठ, चोलवंश, दिल्ली, 1979 ।

स्मृति चंद्रिका आफ देवण्ण भट्ट, आजा आह्निक काण्ड।

समदर्शी आचार्य हरिभद्र, राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला ।

सिंह, सुरेन्द्र पाल, शिक्षा दर्शन की भूमिका, इलाहाबाद सम्वत् 2014

सिंह, आर०बी०, हिस्ट्री आफ चाहमानाज, वाराणसी, 1964,

=========

सिन्हा, बी०पी०, दि कम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री आफ बिहार पटना, 1974.
जैन, एस०एन०, इण्डिया थ्रू चाइनीज आइज ।
हाजरा, आर०सी०, स्टडीज इन दि पुराणिक रिकार्ड्स आन हिन्दू राइट्स
एण्ड कस्टम्स, दिल्ली 1975.

===========